प्रकाशकीय

साधुत्व की पवित्र धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बडे-बडे आचार्यों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्रांति का प्रसग आया है, जिसका उद्देश्य श्रमण संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का रहा है। ऐसी क्रान्ति-धारा मे क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा का नाम विशेष रूप मे उभरकर सामने आता है। तत्कालीन युग मे जहा शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बडे-बडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा ने उपदेशो से नही अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे वरन् श्रमण संस्कृति के गहरे अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। 'तिण्णाण तारयाण' के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधु मार्ग मे क्राति घटित हुई, जो पश्चात्वर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे बढी।

प्रकाशकीय

साधुत्व की पवित्र धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बडे-बडे आचार्यो ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्राति का प्रसग आया है, जिसका उद्देश्य श्रमण सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का रहा है। ऐसी क्रान्ति-धारा मे क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा का नाम विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। तत्कालीन युग मे जहा शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बडे-बडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा ने उपदेशो मे नही अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे वरन् श्रमण सस्कृति के गहरे अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। 'तिन्नाण तारयाण' के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधु मार्ग मे क्राति घटित हुई, जो पश्चाद्वर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे बढी।

शान्त क्रांति के अग्रदूत स्व० आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा की स्मृति मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर उन्हे अ भा. साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशित कर रही है। इसी सकल्प की क्रियान्विति मे इस कृति को श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के 25वे वर्ष के उपलक्ष्य मे प्रकाशित करने मे सघ हार्दिक सतुष्टि का अनुभव कर रहा है।

जैन-दर्शन मे आत्म-पुरुषार्थ द्वारा परमात्म तत्त्व को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। यह परमात्म तत्त्व प्रत्येक जीवात्मा मे निहित है पर काषायिक प्रवृत्तियो के कारण वह सुषुप्त बना रहता है। कषाय पर विजय प्राप्त करना ही परमात्म तत्त्व से साक्षात्कार करना है। कषाय के मुख्य चार प्रकार है – क्रोध, मान, माया और लोभ। क्षमा, विनम्रता, सरलता और सन्तोष जैसे आत्मगुणो का विकास कर इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

कषाय चतुष्क मे माया कषाय तृतीय है। आचार्य श्री ने इस कृति मे माया मनोविकार के स्वरूप, प्रकार, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति, दुष्प्रभाव एव उसके शमन/विजय के उपाय आदि बिदुओ पर लोक एव शास्त्र तथा धर्म एव मनोविज्ञान के धरातल पर अनुभूतिपरक समीक्षण प्रस्तुत किया है जो पाठको व साधको के लिए समान रूप से उपयोगी है। इसके लिए सघ आचार्य प्रवर के प्रति अनन्त श्रद्धा समर्पित करता है। साथ ही आचार्य प्रवर के मुखारविन्द से प्रस्फुटित होने वाली प्रस्तुत अभिव्यक्ति को विद्वद्वर्य श्री विजयमुनि जी म सा एव सेवाभावी श्री प्रकाश मुनि जी म सा. ने लिपिबद्ध किया, उनके प्रति सघ आभारी है।

इस कृति के प्रकाशन-सम्बन्धित प्रबन्धन-सम्पादन मे डॉ. नरेन्द्र भानावत ने जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया तदर्थ वे धन्यवादार्ह है।

आशा है, यह कृति माया-शमन मे हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी और इससे माया-विजय की प्रेरणा जागेगी।

चुन्नीलाल मेहता	धनराज बेताला	गुमानमल चौरड़िया
अध्यक्ष	मत्री	सयोजक, साहित्य समिति

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

माया-समीक्षण

जे माए दसी से माया दसी

चैतन्यदेव अनादि काल से, ससार-अटवी मे परिभ्रमण करता आ रहा है। विविध योनियो मे, विभिन्न पर्यायो को धारण एव विसर्जित करता रहता है। किन-किन पर्यायो मे किस-किस प्रकार के दु ख-द्वन्द्व का अनुभव किया, इनका वर्णन करना भी असभव है। उसकी घोरातिघोर दुस्सह एव अपार व्यथाओ का कथन कोटि-कोटि जिह्वाएँ भी नही कर सकती। लेकिन यह सोचने-समझने का कष्ट नही किया कि इन दु ख-द्वन्द्वो का कौन-कौन सा हेतु किस-किस रूप मे रहा है? उसका मूल कर्ता कौन है? इस तथ्य की अन्वेषणा नही की। अधिक से अधिक दुर्गति के तात्कालिक निमित्तो को किसी ने जान लिया और उसी को दु ख का मूल कर्ता मानकर उसके साथ वैर-विरोध या दुर्व्यवहार करने की प्रवृत्ति चालू रखी, जिससे समस्या और उलझती गयी, कई आत्माओ ने तो अज्ञानता की बेहोशी मे ही कष्ट सहन किये और तत्क्षण के निमित्तो को भी नही समझ पाया। कई लघु कर्मी आत्माओ ने कुछ समझने का प्रयत्न भी किया परन्तु वे मिथ्यात्व की विविध कँटीली शाखाओ मे उलझकर रह गई। वास्तविक कारण का ज्ञान प्राप्त करने मे वे सक्षम नही हो पायी।

प्रगति से चैतन्य का ऊर्ध्वारोहण होता है। जीवन के दोषो का परिमार्जन करता हुआ वह सिद्धस्वरूप की ओर गतिमान बन सकता है। अतएव आत्मशुद्धि का लक्ष्य निर्धारित कर उसमे बाधक बनने वाली वृत्तियो का समीक्षण करना नितान्त आवश्यक बन जाता है।

आत्मिक शुद्ध वृत्तियो को विकृत बनाने वाली, टेढी-मेढी छलना स्वरूप से युक्त, व्याघ्र के जाल की तरह सद्‌वृत्तियो को फँसाने वाली एव दुर्वृत्ति माया है। यह सहसा अभिव्यक्त नही होती, किन्तु भीतर ही भीतर प्रच्छन्न रूप से अपना जाल बिछाती रहती है। सद्‌वृत्तियो का ऋजु स्वभाव होने से वे कुटिल वृत्तियो को सहसा पहचान नही पाती और माया की कई वृत्तियाँ सद्‌वृत्तियो की पोशाक मे निज स्वरूप सरल सहज वृत्तियो को जकड लेती हैं। जब उनका दुष्परिणाम प्रकट रूप मे आता है तब चैतन्य देव की निद्रा भग होती है। वस्तुत माया की अवस्था अति ही जटिल एव दुरूह होती है। इसका सहसा अनुभव करना दु शक्य है।

माया के कई स्तर होते हैं। यह आडी-टेढी ग्रन्थियो के रूप मे भी जीवन मे विद्यमान होती है। बास की जड कितनी गठीली एव परस्पर उलझी हुई होती है, उससे भी यह अधिक गँठीली कही जा सकती है। इस माया वाला पुरुष इतना गूढ मायावी होता है कि जिसका सहज कोई पता नही लगा सकता। ऐसा पुरुष ऊपर से कुछ और तथा भीतर मे कुछ अन्य ही स्वरूप वाला होता है। उसका आचरण कुछ और ही प्रकार का होता है। वह सोचता कुछ है, कहता कुछ है और करता कुछ और ही है। ऐसे मायावी पुरुष की मायावी ग्रथियाँ कोई खोल नही सकता और तो दूर रहा जिसने ग्रन्थियाँ निर्मित की हैं, वह स्वय अपने द्वारा निर्मित मायावी ग्रन्थियो को खोल नही सकता, बिखेर नही सकता, क्योकि उस पुरुष का मानसिक तत्र माया के जाल से जकडा रहता है।

जहाँ मानसिक तत्र माया के अधीन हो जाता है वहाँ ज्ञानवाहक ततु, मासपेशियाँ एव अन्य शरीर सबधी तत्र माया के दुष्प्रभाव से अछूते नही रह सकते। कदाचित् असत्य कल्पना से उस चैतन्य देव को ऐसी माया का आभास हो भी जाय फिर भी वह इतना परवश हो गया होता है कि वह इस मायाजाल को काटने, समेटने मे असमर्थ रहता है। मकडी अन्य प्राणियो को जाल मे फँसाने के लिए अपने ही मुँह से बारीक सा धागा निकालती है। वह इस प्रकार प्राणी को धागे के जाल मे फँसा भी लेती है कि जिससे वह प्राणी उस जाल से छूट नही पाता। वह वही अपने प्राण-पखेरू उडा देता है। किंतु वह मकडी भी स्व-निर्मित जाल मे कभी-२ ऐसी उलझ जाती है कि अपने आपको जाल से विलग करना चाहती हुई भी विलग नही कर सकती। वह भी उसी जाल मे फँसकर अपने प्राण गँवा देती है। ऐसी माया का गूढतम जाल अनतानुबधी कषाय से सबधित होता है।

क्षणभगुर नाशवान् पाँच इन्द्रियो के लुभावने विषयो मे आसक्त बना हुआ जीव उनकी प्राप्ति हेतु विविध प्रकार का षड्यन्त्र रचता हुआ अनेक प्राणियो को षड्यन्त्र के जाल मे फँसाकर उनकी जीवन-लीला को समाप्त कर देता है। सिकन्दर बादशाह ने दुनिया के वैभव को लूटने के साथ ही अनेक टेढी-मेढी चालो से विविध प्रकार के साम, दाम, भेद और युद्धादि तरीको से अनेक प्राणियो को अपनी मायावी कुटिल राजनीति मे फँसाकर समाप्त किया। अन्ततोगत्वा स्वय भी उसी के दुष्परिणाम का शिकार बना और अपने आपको समाप्त कर चल बसा। रावण ने सीता-हरण करने के लिए मायावी योगी का स्वरूप बनाया। आखिर अपनी जीवन-लीला को अपनी ही माया के फलस्वरूप समाप्त कर बैठा। इसी प्रकार की अनेकानेक घटनाएँ भूतकाल मे घटी, वर्तमान मे घट रही है और भविष्यत् काल मे भी घटेगी। इस स्तर की माया मे महारभ और महापरिग्रह की भावना के साथ आगे की आयुष्य के बन्धन का प्रसग बन जाय तो प्राणी नरकानुगामी बन सकता है।

जिस पुरुष ने अन्तिम क्षण तक इस माया से अपने को विलग करने का प्रयत्न नही किया वह मिथ्यात्वावस्था के साथ दुर्गति का मेहमान बने बिना कैसे रह सकता है? ऐसी स्थिति मे मानव-जीवन एव तत्सबधी शक्तियो का कितना दुरुपयोग होता है, यह सहज ही जाना जा सकता है। इसकी अपेक्षा माया का कुछ हल्का स्वरूप भी पाया जाता है। उस माया मे अति दुरुहता होने पर भी कुटिलता एव जटिलता कुछ कम होती है। कुछ प्रयासो से सदुपदेशो के माध्यम से ऐसी माया से पिड छूट सकता है। ऐसी माया वाला पुरुष, यदि सम्यग्दृष्टि है और अपने आपको सम्यग्दृष्टि से विलग नही करना चाहता हो तो उसे अधिक से अधिक बारह माह के समाप्त होने तक साहसपूर्वक माया के जाल को काट देना चाहिए। यदि उसने साहसपूर्वक ऐसा नही किया तो उसकी पवित्रता भी सुरक्षित नही रह पाती। अतएव सम्यग्दृष्टि भावपूर्वक यह चिन्तन करे कि इसी माया को सत्पुरुषार्थ के साथ सरलता के रूप मे परिणत किया जा सकता है। मेढे-मेष का सीग कठिन एव टेढा-मेढा होने पर भी निरन्तर लम्बे समय तक पुरुषार्थ करते रहने से उसको सीधा करने मे सफलता हासिल हो सकती है। वैसे ही इस अप्रत्याख्यानी माया को जो मेढे के सीग के तुल्य है 'सरल कर ही दूँगा' ऐसा दृढ सकल्प अवश्य कामयाब बनता है।

करने वाला पुरुष अपने श्रावक जीवन को सुरक्षित रख सकता है। अन्यथा श्रावक जीवन मे न्यूनता आये बिना नही रहती है।

चतुर्थ प्रकार की सज्वलन माया सबसे हल्के स्तर की है। इसकी सत्ता पचम गुणस्थान से नौवे गुणस्थान तक रहती है। ऐसी माया को विनष्ट करने के लिए लम्बे एव तीव्र तपश्चरण की आवश्यकता नही रहती है। जैसे बास के छिलके को हाथ की अगुलियो से ही सीधा किया जा सकता है वैसे ही इस माया की ओर उपयोग रूपी हाथ के पहुँचते ही यत्किचित् पश्चाताप से पिण्ड छूट सकता है।

यह तो माया के स्थूल चार वर्गों के यत्किचित् स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। इन चार वर्गों के अन्तर्गत अवान्तर भेद असख्य हैं, जिनका परिगणन एव विवेचन करने हेतु गणित और वाचिक साधन सर्वथा अपर्याप्त है। उन असख्य स्वरूपो को अनुभूतिपूर्वक आगमो के आधार पर ही ज्ञात किया जा सकता है। कदाचित् देवताओ के गुरु वृहस्पति भी माया के अवान्तर भेदो का निर्वचन करने लगें तो वे भी स्थूल सख्यात प्रकारो का ही कथन कर सकते है, समग्र सख्यात सख्या का नही। तो फिर असख्यात सख्या का कथन तो सर्वथा ही असभावित है। सुज्ञ पुरुषो का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य बन जाता है कि इस माया के मुख्य चार वर्गो एव उनके अवान्तर भेदो के स्वरूप का पर्यालोचन करता रहे। इस पर्यालोचन मे समता, तटस्थता और समीक्षण दृष्टि ही महत्त्वपूर्ण माध्यम बन सकती है। अतएव अन्तर्यात्रा का पथिक अपनी आन्तरिक वृत्तियो का समय-समय पर अवलोकन करना अति आवश्यक समझे।

अपने अन्तर्मानस-सरोवर मे उठने वाली वृत्ति-लहरो के अवलोकन का अभ्यास नियत समय पर एकाग्रचित्त से, सूक्ष्मदृष्टि के साथ करे। लेकिन इस तथ्य को कभी न भूले कि इन वृत्तियो के अवलोकन के समय उपयोग लुभावने दृश्यो व वृत्तियो के जाल मे उलझ न जाय। अपने आपका सत्प्रयत्न समाप्त न कर दे। परन्तु आन्तरिक लुभावनी वृत्तियो से अपनी प्रज्ञा को निर्लिप्त रखता हुआ समीक्षण-दृष्टि को तीक्ष्ण बनाने का अभ्यास करे।

माया सबधी कर्म वर्गणाओ के आत्मा के साथ बन्धन के हेतुओ का एव मूल कर्ता का विवेक-विज्ञान रखते हुए समीक्षण दृष्टि का प्रयोग करते रहना चाहिए। यद्यपि माया के जाल अनेक तरतमताओ से युक्त है, विविध परिवेशो मे है। तथापि समीक्षण-दृष्टि के सम्यक् प्रयोग से उन सभी रूपो मे विद्यमान माया का अवलोकन सुगम बन सकता है। शर्त यही है कि विधिपूर्वक समीक्षण-ध्यान की प्रक्रिया अपनायी जाय, उत्साह और उमग के साथ इस भावना को अभ्यास मे लाने का प्रयास किया जाय। समीक्षण-ध्यान की पद्धति सुगम है किंतु लम्बे समय से ममत्व, अहत्व व विषमता से जीवन अनुप्राणित रहने के कारण

प्राय जीवन की समग्र वृत्तियाँ इन्ही की अभ्यस्त है। इन्ही विषयो मे मन रचा पचा है। मन के लिए यह विषय हाइवे—राजमार्ग के तुल्य बने हुए हैं। अतएव बिना किसी रुकावट के स्वच्छदता के साथ अहनादि विषयो मे ही मन सुखानुभव करता आया है।

मानस-तन्त्र की वृत्तियाँ इन्ही विषयो से इतनी ओतप्रोत हो गयी है कि मानो उनकी सदा-सदा के लिए ये जागीरे है। इन जागीरो की सीमा मे किसी अन्य का प्रवेश न हो जाय, एतदर्थ इन दुर्वृत्तियो ने सुदृढ किला बना रखा है। इस दुर्भेद्य किले मे इन वृत्तियो के बीच सद्वृत्तियो का पनपना अति ही कठिन है। दुर्वृत्तियो की तीव्रता एव विपुलता होने से स्वल्प मात्रा मे रहने वाली सद्वृत्तियाँ विकसित नही हो पाती है। सद्वृत्तियो का स्वामी चेतन देव दुर्वृत्तियो के जाल मे इतना फँसा हुआ है कि वह उन दुर्वृत्तियो से अलग अपने आपको एव अपनी निजी स्वाभाविक सद्वृत्तियो को पहचान नही पाता। दुर्वृत्तियो के नशे मे बेभान बना हुआ चेतन देव इनको ही अपनी वृत्तियाँ मानता है। इन्ही का सपोषण करने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करता है। इसलिए अन्तरमन मे रहने वाली सद्वृत्तियाँ इन दुर्वृत्तियो का सामना-मुकाबला करने मे कमजोर बन जाती है। चेतन की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए समीक्षण-ध्यान और समीक्षण-दृष्टि श्रेष्ठतम साधन है। समीक्षण-ध्यान एव समीक्षण-दृष्टि से सद्वृत्तियाँ प्रबल और दुर्वृत्तियाँ निर्बल बन जाती है और अन्तत उनका निर्मूलन हो जाता है।

जब भी और जो भी मानव वास्तविक सुख और शाति पाना चाहेगा, तभी उसे समीक्षण ध्यान एव समीक्षण दृष्टि को अनिवार्य रूप से अपनाना ही पडेगा। इसके बिना त्रिकाल मे भी परम शाति और परम सुख नही मिल सकता। यह त्रिकाल-अबाधित और ध्रुव सत्य है, ऐसा कहा जा सकता है। इसमे सशय को यत्किचित् भी अवकाश नही है।

वैयक्तिक आध्यात्मिक शाति के साथ-साथ परिवार, समाज राष्ट्र और विश्व मे भी सुव्यवस्था और स्थायी शाति समीक्षण ध्यान एव समीक्षण दृष्टि को साकार रूप देने पर ही होगी। आज की स्थिति कैसी भी क्यो न हो, एक न एक दिन अवश्यमेव यही मार्ग अपनाना होगा। भले ही आज का व्यक्ति या समाज सीधे शब्दो मे सहजतया इस अटल सत्य को न स्वीकार करे, किन्तु इस स्वरूप को जीवन मे उतारे बिना छुटकारा नही हो सकता। अतएव प्रत्येक प्रज्ञा-सम्पन्न पुरुष को चाहिए कि समीक्षण दृष्टि का निरन्तर प्रयोग करने का कार्यक्रम सुनिश्चित करे। अन्तरग और बाह्य—सभी विषयो का इसी दृष्टि से अवलोकन करे एव आन्तरिक जितनी भी दुर्वृत्तियाँ है, उनका परिमार्जन करता हुआ माया का भली भाँति समीक्षण करे।

इसके सोपान समीक्षण तक पहुँचने के लिए पहले के दो समीक्षण-सोपानो को पार करना अत्यावश्यक है। उन दो समीक्षणो मे से प्रथम सोपान क्रोध-समीक्षण है। उसमे सफलता मिलने पर मान का समीक्षण किया जाय। इस विषयक उपलब्धि होने पर माया का समीक्षण किया जाय। यह क्रम किसी अपूर्ण व्यक्ति के द्वारा बुद्धि कल्पित नही है किन्तु केवल ज्ञानादि आत्मिक समृद्धियो से सम्पन्न वीतराग देव महाप्रभु महावीर की अनुभूति प्रभूत देन है। प्रभु द्वारा निर्देशित आचाराग, जो प्रथम देशना है उसमे मनोवैज्ञानिक तरीके से अत्यधिक गाभीर्यमय अर्थ से परिपूर्ण तथ्य उद्घोषित किया गया है कि—'जे कोह दसी से माण दसी। जे माणदसी से मायादसी। तदनुसार साधक माया का समीक्षण किस प्रकार करे, एतद् विषयक यत्किचित् विवेचना प्रस्तुत प्रकरण मे प्रदर्शित की गई है। इस व्याख्यायित विषय को हृदयगम करता हुआ साधक अध्यात्म पथ का पथिक बने एव सत्पुरुषार्थ के साथ दृढतापूर्ण गति से अपने लक्ष्य तक पहुँचे। अभ्यास करते समय विवेचित व्याख्या को समझने मे दुरूहता ज्ञात हो तो इसको समझने के लिए द्वार सदा खुले हैं।

माया का स्वरूप—परिभाषा

माया आन्तरिक जीवन का कुटिल रूप है जो चेतना को छलना के जाल मे आबद्ध करता रहता है। परिणामस्वरूप चित्त वृत्तियाँ आडी टेढी गति करने मे अभ्यस्त बन जाती है। अधिक समय तक ऐसा होते रहने पर, वे उसी गति की आदी बन जाती है। फिर उन वृत्तियो को सीधी रेखा मे लाना अति

हो कठिन बन जाता है। उस आदत की अवस्था से छुटकारा पाना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं रहती। अधिकांश व्यक्ति तो इनको व्यवस्थित करने में भी लाचार हो जाते हैं और सोचने लगते हैं कि इन वृत्तियों को संस्कारित करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के परिणाम पर वे लोग तब पहुँचते हैं जबकि उनको साधा करने में भरसक प्रयत्न कर चुके होते हैं। किन्तु उनकी असफलता एवं निराशा का वास्तविक कारण समीचीन उपायों की अनभिज्ञता है।

अनेक प्रकार के गलत तौर-तरीकों को अपनाने के कारण ही वे असफलता का वरण करते हैं। वे उन वृत्तियों को ओटक प्राणायामादि साधनों में आबद्ध कर चिरकाल तक उस अवस्था में रखते हैं। वे सोचते हैं कि इतने समय तक इन वृत्तियों को इन साधनों में बांध कर रखा है, अब इनकी टेढ़ी-मेढ़ी अवस्था समाप्त हो जाएगी एवं इस कुटिलताजन्य दयनीय दशा से बच जाएंगे। किन्तु जैसे ही साधना के बन्धन को स्वल्प समय के लिए भी शिथिल किया कि वे वृत्तियां पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। तब वे सोचने लगते हैं कि ये वृत्तियां कभी सीधी नहीं होंगी, इनका स्वभाव तो श्वान-पुच्छ का जैसा हो गया है। श्वान की पूंछ को बांस की सीधी नलिका में भले ही वर्षों तक बांध कर रखा जाय, पर जैसे ही नलिका से विलग करते हैं कि वह पुनः अपनी पूर्व दशा में पहुंच जाती है, टेढ़ी हो जाती है। यही दशा आन्तरिक कुटिल वृत्तियों की बनी हुई है। अतः इनके सरलीकरण के लिए वे प्रयत्न करना ही छोड़ देते हैं। परिणामस्वरूप ऐसे लोगों के जीवन की शान्ति प्रायः विलुप्त-सी हो जाती है। वे किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर जैसा तैसा जीवन यापन करने लगते हैं। मस्तिष्क का तनाव निरन्तर बना रहने से ब्लडप्रेशर आदि बीमारियों के शिकार बन जाते हैं। अधिक समय तक ऐसी अवस्था के चलने पर हृदयाघात या पक्षाघात की व्याधि से भी ग्रस्त बनने की स्थिति उपस्थित हो जाया करती है।

ग्राहको के अविश्वास के कारण आय के स्रोत अवरुद्ध हो जाते है। यही बात अन्य आर्थिक व्यवसायो की अवस्था मे घटित होने लगती है।

आर्थिक कमी जीवन को विपन्न बना देती है। ऐसा पुरुष सर्वत्र अनादर का पात्र बनता है। इस प्रकार वर्तमान जीवन सम्बन्धी व्यवहारो के बिगडने से इहलोक सम्बन्धी क्षति सामने उभरती है। भीतरी वृत्तियो मे माया का जाल निरन्तर चलते रहने से आत्मा विविध कर्मो के बन्धन से जकड जाती है। जितनी पूर्व जन्म के परिणामस्वरूप इस मानवीय जन्म मे उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं, उन उपलब्धियो का भी दुरुपयोग हो जाता है। इस दयनीय दशा मे अग्रिम जन्म का आयुष्य बन्ध हो जाय तो पशु योनि आदि निकृष्ट योनि का ही बन्ध होगा, जो कि दु ख का सिलसिला बढाने मे ही हेतुभूत बनता है। अतएव साधक को चाहिये कि वह वर्तमान के अमूल्य जीवन का समीचीन रूप से अवलोकन करे। समीक्षण दृष्टि से जो वृत्ति जैसी है उसे उसी रूप मे देखे और उनके द्वारा होने वाली राग-द्वेष की वृत्ति से ऊपर उठकर समताभाव मे स्थित हो।

आवश्यक है कि मानव इस प्राप्त मानवीय तन का अवमूल्यन न करता हुआ इसका सदुपयोग करे। बाह्य जीवन व्यवहार के कारणभूत आन्तरिक जीवन का समवलोकन करते हुए उसका विश्लेषण करे। देखे कि इस लोक और परलोक सम्बन्धी जीवन को पतित बनाने वाली कौन-कौनसी वृत्तियाँ है। उन आन्तरिक वृत्तियो का परीक्षण करता हुआ वह देखे कि सरल वृत्तियाँ कितनी है और कुटिल वृत्तियाँ कितनी मात्रा मे हैं?

साधक को जब यह लगे कि सरल एव सीधी वृत्तियाँ स्वल्प एव निर्बल है, कुटिल वृत्तियाँ अधिक मात्रा मे और प्रबल है। कुटिल वृत्तियाँ स्वाभाविक नही है, वैभाविक है। बाहर से आने वाली है। उन वृत्तियो का अम्बार-सा लग गया है। इसमे अन्य का कोई दोष नही, मेरा ही दोष है, क्योकि मैंने इन वृत्तियो का अकुरित होते ही उन्मूलन नही किया। प्रारम्भ मे स्वल्प मात्रा मे जब शुरूआत हुई उस समय उपेक्षा की। उसका परिणाम यह हुआ कि सद्-वृत्तियो को दबाकर इन कुटिल वृत्तियो ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। यह मेरी पराजय ही कही जा सकती है। किन्तु इस पराजय से मुझे निराश एव हतोत्साह न होकर प्रबल पुरुषार्थ तथा दृढ सकल्प के साथ नये सिरे से उत्साहित बनना है। जिस प्रकार प्रारम्भिक यत्किंचित् दुर्वृत्तियो को नही पनपने देने की तरफ ध्यान नही देने से ये वृत्तियाँ विष-लता की तरह फैल चुकी हैं, ठीक इसके विपरीत अति उत्साह के साथ सद्वृत्ति को उभारना है। उसका समादरपूर्वक सत्कार करना अन्य सद्वृत्तियो को जागृत करने मे सहायक बनना है, क्योकि जिसको चैतन्य देव प्रश्रय देता है वही अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और जीवन पर उसका साम्राज्य छा जाता है। जिन वृत्तियो को उत्साहित नही किया

[illegible] वृत्तियाँ शनै-शनै विसर्जित हो जाती हैं। पर यह कार्य तभी सम्भव [illegible] अर्थात् चैतन्य देव दोनों प्रकार की वृत्तियों के बलाबल एव लाभालाभ [illegible] समीक्षण-दृष्टिपूर्वक देखकर वर्गीकरण करता तथा सद्गुणो को अंकुरित, [illegible], पुष्पित होने का अवसर प्रदान करता है, साथ ही सद्गुण-सम्पन्न पुरुषो [illegible] सान्निध्य में स्वय को उपस्थित करता है, उनकी उपासना करता है। सद्गुणो [illegible] सद्वृत्तियो का समादर किसी निश्चित उद्देश्य को सम्मुख रखकर करता है। अतः सर्वदा उस लक्ष्य पूर्ति की तमन्ना मस्तिष्क मे जागृति रूप मे उपस्थित [illegible] और उसका संवर्धन एव संपोषण प्रत्येक क्षेत्र मे करने का निरन्तर ध्यान रखा जाता है। जहाँ भी मायामय दुर्वृत्तियाँ ज्ञात हो वहाँ उनका विश्लेषण करे कि यह माया वृत्ति स्वत कुछ नही कर रही है किन्तु चैतन्य देव का [illegible] पाकर पल्लवित व पुष्पित हो रही है।

चैतन्य देव सम्यग्ज्ञान पूर्वक यह समीक्षण करे कि इस माया का उद्गम [illegible] मेरी अपनी वैभाविक दशा है। वैभाविक दशा मे चैतन्य देव छद्मस्थ होने [illegible] कारण [illegible] को पहचान नही पाता एव वैभाविक भाव को अपना [illegible] समझता है एव वैभाविक भाव की विषयभूत वस्तु मे आकर्षण बनाकर [illegible] प्राप्ति के लिए मायावृत्ति को काम मे लेता है। जब एक वृत्ति भी इस माया की कक्षा मे उत्तीर्ण हो जाती है तो चैतन्य देव अधिक ललचा जाता है और [illegible] उसका संवर्धन करने के लिए विभिन्न रूपो मे भाव मन के माध्यम से [illegible] लगाता है। द्रव्यमन इन वृत्तियो के लिए अनादिकाल से राज-[illegible] रहा हुआ है, अतएव ये माया की वृत्तियाँ बेखटके उस राजमार्ग [illegible] पल्लवित, पुष्पित होती रहती है। यही चैतन्य देव की मूल [illegible] हुई है।

माया : दुधारी तलवार

दो प्रकार के शस्त्र जीवन का सहार करते है—द्रव्य शस्त्र एव भाव शस्त्र।

द्रव्य शस्त्र छुरी, तलवार, तीर बदूकादि से प्रारम्भ कर आधुनिक युग के बमों तक परिगणित किये जा सकते है। इनसे भी प्राणी वर्ग का नाश होता है—दुरुपयोग करने पर, किन्तु सदुपयोग से प्राणियो का सरक्षण भी हो सकता है। दोनो प्रकार का उपयोग केवल वर्तमान जीवन पर्याय के विनाश या सरक्षण मे होता है। ये द्रव्य शस्त्र वर्तमान जीवन के विनाश एव बचाव के निमित्त बनते है।

भाव शस्त्र भी विविध प्रकार के होते है। उनमे से माया एक प्रमुख भाव-शस्त्र के रूप मे परिगणित है। यह ऊपर से किसी को भय भ्रान्त नही बनाता है किन्तु प्रच्छन्न रहकर प्राणियो का विनाश करता है। इससे प्राय विनाश ही विनाश होता है। सरक्षण प्राय नही जैसा होता है। यह माया शस्त्र सेवन करने वाले का ही अहित करता है। तदनन्तर जिसके प्रति किया जाता है उसके लिए भी अकल्याणकारी होता है।

कोई व्यक्ति इसको जान जाय और इसके प्रतीकारात्मक माया रूप शस्त्र को ही लेकर चलता है तो उस अन्य पुरुप को क्षति पहुँचती है। यदि वह अपने लिए प्रयोग किये गये माया के शस्त्र के विदित कर लेने पर भी प्रतीकार के लिए माया का उपयोग न कर सरलता का उपयोग करता है तो वह माया उस अन्य पुरुप के लिये सहारक नही बनती। किन्तु माया करने वाले पुरुप के लिये तो सहारक बनती ही है। यह स्वगृह मे छिपा एक ऐसा बारूद है कि जरा भी असावधानी हुई तो घर परिवार सहित स्वय को भी भस्मीभूत सा बना डालता है।

अग्नि तो एक ही जीवन को भस्मीभूत करती है, पर माया अनेक भावी जीवनो को विनष्ट कर देती है। साथ ही ऐसे निकृष्ट कर्मो के सचय का निमित्त बनती है कि जिससे महत्त्वपूर्ण मानवीय तन के समाप्त होने पर पशु योनि मे चैतन्य देव को ढकेल देती है। इस दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो तलवार के तो एक तरफ धार होती है पर इस माया शस्त्र के दोनो तरफ धार होती है। अतएव जिधर भी इसका प्रयोग किया जाता है उस तरफ तो घाव होता ही है दूसरी तरफ भी उसका घाव हुए बिना नही रहता।

तलवार की धार के अग्रभाग को मुट्ठी मे पकडा जाता है तो जिधर धार होती है उधर ही हाथ को क्षति पहुँचती है, पर जिस तरफ धार नही है उधर हाथ मे घाव पडने का प्रसग नही बनता। किन्तु इस माया रूपी तलवार को मन रूपी मुट्ठी मे पकडने पर मन के दोनो तरफ घाव हो जाते है। आगे चलकर

[illegible] बाह्य व्यापार एवं पाँचों इन्द्रियों को भी प्रभावित करती है। साथ ही मस्तिष्क [illegible] को भी माया का नन्द क्षत-विक्षत कर देता है। मस्तिष्क के ज्ञान [illegible] एवं क्रिया केन्द्र तथा उन दोनों से सम्बन्धित जितने भी उपकेन्द्र हैं, उनको भी प्रभावित किये बिना नहीं रहता। यह एक ऐसी अद्भुत ज्वाला या दावानल है कि जिसकी लपटों से बाह्य अग्नि के बिना ही दहन हो जाता है। इस माया [illegible] का सहयोग प्रदाता चैतन्य है। ज्ञान, मिथ्यादि सम्बन्धी भ्रम पर इसका [illegible] प्रभाव होता है।

इस प्रकार, अर्थात् मायावी के जीवन में तनाव, दुःख इत्यादि अवस्थाएँ [illegible] हो जाती हैं। यह माया अमर बेल की भांति जीवन के तत्त्व को नष्ट करती है। जिस प्रकार अमर बेल का एक दो अंगुल का टुकड़ा हरे भरे पल्लवित पुष्पित [illegible] पर डाल दिया जाय तो वह समय पाकर उस सुरम्य आकर्षक वृक्ष को भी [illegible] असुन्दर बना देता है। अमर बेल वनस्पति है। वैसे ही इस माया [illegible] अमर बेल का यत्किंचित् भाग भी मनोहर एवं आकर्षक जीवन को [illegible] असुन्दर तथा घृणास्पद बना देता है। अतएव माया का समीक्षण आव[illegible] हो जाता है।

जब तक विषम ईक्षण है तब तक माया है और जब समीक्षण हो जाएगा [illegible] नहीं रहेगी, सरलता होगी, सहजता आयेगी, समभाव की धारा बहेगी। [illegible] समता होगी। मानस-तंत्र समता से अनुरंजित होगा। [illegible] व्यापार चलेगी। जीवन समतामय बन जाने से सम्यक् निर्णायक शक्ति [illegible] होगी। जड़ चेतन का भलीभांति निर्णायक विज्ञान विकसित होगा। [illegible] आत्मस्वरूप निखरेगा, शान्ति-सरिता से पल्लवित पुष्पित होगा तथा [illegible] सदा-सदा के लिए परमसुख एवं परम शान्ति का [illegible]। अत- [illegible] माया समीक्षण नितान्त आवश्यक है।

माया : मानसिक रोग

वाले मानवो से प्राय· सभी बचना चाहेगे, उनको कार्य नही देगे । बिना कार्य के मन रूपी रस्सी बुरे विचारो से सडने लगेगी एव काम कषाय रूप जहरीले जन्तु डास मच्छरादि के रूप मे निर्मित होगे और वे मन की स्वाभाविक स्थिति को डसने लगेगे । जिसके परिणाम स्वरूप मानसिक यत्र विकृत होगा एव अनेक मानसिक रोगो का आलय बन जायेगा । मन से वास्तविक आध्यात्मिक साधना बन नही पायेगी । मानसिक रोग से रुग्ण रोगी की साधना तो दूर, वह पारिवारिक एव सामाजिक कर्तव्यो का भी भलीभाति निर्वाह नही कर पायेगा । परिणाम-स्वरूप पारिवारिक सदस्यो की दृष्टि मे मानसिक रोगी उपेक्षा का पात्र और घृणा-स्पद बन जायेगा । परिवार का कोई भी सदस्य उसे प्रेम, सौहार्द एव स्नेह नही दे पायेगा । जिससे वह अपने आपको दु खी अनुभव करेगा एव मानसिक रोग वृत्तियो मे इतना उलझ जायेगा कि जिनसे निकलना अति कठिन होगा ।

मानसिक बीमारी ऐसी छूत की चेपीली बीमारी है कि जिससे अनेक व्यक्ति प्रभावित होते रहते है । अर्थात् उसके समीप आने वाले एव सहनिवास की अवस्था मे वे भी मानसिक रोग से प्राय ग्रस्त हुए बिना नही रहेगे । जिस प्रकार हैजा एव टी बी आदि की बीमारी छूत की है अर्थात् हैजे एव टी वी रोग के रोगी के पास परिवार के सदस्य अथवा स्नेहीजन रहेगे तो उनको भी प्राय हैजे एव टी. बी. की बीमारी लागू हो जाती है । वैसे ही मानसिक रोगो के रोगी के समीप अधिक समय रहने वाले अन्य सदस्य भी मानसिक रोग से ग्रस्त बनते हुए वर्तमान जीवन को एव भविष्य के जीवन को बिगाड लेगे । धीरे-धीरे मानसिक रोग के रोगियो की अवस्था एव सख्या बढने से व्यक्ति परिवार एव समाज की क्षति हुए बिना नही रहती । परिणाम स्वरूप परिवार के सदस्य दु खित एव छिन्न-भिन्न होते हुए किंकर्तव्यविमूढ से बन जाते है । वैसे ही समाज की आधार शिला रूप व्यक्ति के विकृत होने से समाज की अवस्था भी प्राय विकृत बने बिना नही रहती, क्योकि मानसिक रोग के रोगी की नीति-प्रकृति मानवता की भूमिका से विपरीत, विषम होगी तो सामाजिक धरातल पर ऐसे व्यक्तियो के पहुँचने पर समाज का वायुमण्डल भी विषम एव दूषित बनेगा ।

समाज की नीतियाँ भी समीचीन न रह पाएँगी, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक कुरीति-रिवाजो एव घातक प्रथाओ को प्रश्रय मिलेगा । सामाजिक दैन्यमय अवस्था तथा सामाजिक हिसा का बाहुल्य होगा । इससे सामाजिक शान्ति खतरे मे पडेगी, गरीब अमीरादि का भेद विकट बनता जायेगा । विष-मता का साम्राज्य फैल जायेगा । साथ ही समाज जिस राष्ट्र से अनुबधित है उस राष्ट्र की शान्ति भी सुरक्षित नही रह पायेगी । राष्ट्र का प्रभाव अन्य राष्ट्रो मे होता हुआ विश्व शान्ति को खतरा पहुँचेगा ।

जीवन मानसिक रोग एव दुर्भावना की अवस्था मे व्यक्ति का अगले जन्म का आयुष्य भी सद्गति का नही होगा । दुर्गति की यातनाएँ भोगने का प्रसग आ

रहता है। अतएव चैतन्य देव को चाहिए कि वह माया के दुष्परिणाम का समीक्षण करें और उस समीक्षण दृष्टि से मानसिक रोग का अवलोकन कर शारीरिक तन्दुरुस्ती प्राप्त करने की शक्ति भर प्रयत्न करें एवं प्रतिदिन नियत समय पर मन की परतों पर रही हुई माया की छाया को अन्धकार परिपूर्ण एवं विषमता की भूमि समझकर उस धरातल पर समता का सूर्योदय करना तथा विषमता का सदा सर्वदा के लिये अन्त करें, ताकि मानसिक रोग की निवृत्ति हो। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व समता की किरणों से प्रकाशित हो, व्यक्ति, परिवार आदि को सही तरीके से शान्ति का स्थान मिल सके। यह कार्य तभी सही तरीके से सम्पन्न हो सकेगा जबकि प्रत्येक दिन नियत समय पर समीक्षण ध्यान का गहरी श्रद्धा के साथ अभ्यास चालू किया जाय।

माया से शारीरिक क्षति

माया शरीर के लिये एक प्रकार का घातक शस्त्र है। यह शरीर को छल-नित करता रहता है। जब व्यक्ति अन्यों को ठगने या धोखा देने के लिए माया का ताना-बाना बुनता है, तब शरीर की 'एनर्जी' उस छल-कपट में लगती है। 'एनर्जी' का शरीर में बहुत बड़ा महत्त्व रहा हुआ है। वह कुटिल मार्ग से बहुत ज्यादा मात्रा में विनष्ट होती है। सरल-सरल व्यवहार से एनर्जी सुरक्षित रह जाती है, अपितु सुरक्षा के साथ-साथ स्वल्प भोजन से एवं व्यवस्थापूर्ण नियमित [illegible] शक्ति का भण्डार वृद्धि को प्राप्त होता है जैसे शारीरिक बल के [illegible] बल पुष्ट होता है।

अपनी स्वाभाविक एनर्जी को अनर्थ दण्ड मे समाप्त कर देता है। जितनी एनर्जी शरीर मे खुराक से पैदा होती है उतनी एनर्जी मे से अधिक एनर्जी माया के निर्माण करने मे विनष्ट होती है। गौण रूप से अन्य कार्यो को भी शरीर से सम्बन्धित करता रहता है। उसमे भी शक्ति का व्यय होता है। जिससे उसके शरीर मे शक्ति का जितना स्टॉक होना चाहिये, वह नही रह पाता। इससे शारीरिक निर्बलता के साथ जीर्ण-शीर्णता को भी वरने लगता है। उसकी सम्पूर्ति के लिये औषधोपचार आदि का आश्रय लेता है पर वह भी पूरा कारगर नही हो पाता, क्योकि ऐसे पुरुषो की शक्ति उपर्युक्त प्रकार से अधिक विनष्ट होती है। अर्थोपार्जन मे जो शक्ति लगनी चाहिये वह नही लग पाती, जिससे आर्थिक कमजोरी भी उस व्यक्ति को त्रस्त करने लगती है। आर्थिक कमी के कारण परिवार आदि का निर्वाह न बनने से भी चिन्तातुर रहने लगता है। शरीर को जिस पथ्य की आवश्यकता है वह पथ्य पूरा दे नही पाता है। कदाचित् खीचातानी से कुछ पथ्य व औषध ग्रहण करता है तो भी उसको पचाने के लिये एनर्जी का स्टॉक ऊर्जा का सचय न होने से न औषध पच पाती है और न ग्रहीत पथ्य का रस ही पूर्ण बन पाता है। जिससे रक्त की अल्पता निरन्तर सताती रहती है। ऐसे पुरुष की जिन्दगी इस प्रकार माया की कुटिलता से प्राय जल्दी ही समाप्त हो जाती है। कदाचित् कई मायावी पुरुष अधिक शक्ति सचय वाले होकर अर्थोपार्जन मे भी सक्षम बन जाते हो, औषधि, पथ्यादि पर्याप्त मात्रा मे पा जाते हो, फिर भी माया की कुटिलता से रस सही तरीके से परिणत न होने के कारण मेद, चर्बी आदि बढ जाने से शारीरिक दृष्टि से भारी-भरकम बन जाते है। वे भी इस कुटिल मायावी चक्र को जब तक अपने आपसे विलग नही करते है तब तक अधिक चिन्तित होने से हृदयाघात आदि रोगो से घिर जाते है। परिणामस्वरूप वे भी इस माया के कुचक्र मे अपने शरीर की आहुति दे देते है। अतएव समीक्षण-साधना साधने वाले साधक को चाहिये कि इस माया का समीक्षण सम्यक्तया करे एव चिन्तन के क्षणो मे समभाव पूर्वक समझे कि नगण्य पदार्थों एव यश-कीर्ति की भावना के वशीभूत बन करके मैं माया को अपने जीवन मे स्थान दे रहा हूँ। वह तुच्छ पदार्थ प्राप्त होगा या नही, यशकीर्ति भी मिलने मे सन्देह है, पर अमूल्य तथा दुर्लभता से प्राप्त शरीर को एव प्रबलतर पुण्योदय से प्राप्त इन पॉच इन्द्रियो तथा मन रूप चिन्तामणि से भी अधिक मूल्यवान् इन शरीरादि को व्यर्थ ही गँवा रहा हूँ। यह एक दृष्टि से अनर्थ दण्ड का सेवन कर रहा हूँ। यह किसी भी विवेकशील मनुष्य के लिए योग्य नही है, हितकर भी नही है।

यह भी सोचना चाहिये कि मैं तो अन्य प्राणियो की अपेक्षा विशिष्ट-मानव कहलाता हूँ। दुनिया भी मेरा आदर करती है और मैं माया के कुचक्र मे फँस कर निकृष्ट कार्य करता हूँ। यह कतई योग्य नही है—हे चैतन्य देव! तू इन नगण्य तुच्छ पदार्थों का कितना गुलाम बना हुआ है। कितनी अधीनता तेरे

[illegible] रहा है। स्थायी शान्ति एवं विश्राम के हेतु प्राप्त [illegible] का [illegible] [illegible] रहा है। पाँच इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी नाशवान् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किये फिर भी इनसे न तो वास्तविक सुख एवं शान्ति का अनुभव किया और न उस [illegible] करने का ही प्रसंग आया। [illegible] चैतन्य देव ! तू इतना [illegible] गया कि निजस्व अविनाशी स्वरूप को विस्मृत कर नाशवान पदार्थों की [illegible] सर्वोपरि मान [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की तुलना में नाशवान के एक टुकड़े के बराबर भी नहीं है।

मेरा मौलिक अस्तित्व सिद्ध भगवन्त के समकक्ष [illegible] है। उसे पाने के [illegible] [illegible] किया है। अनादिकाल से विविध प्रकार के कष्टों को सहन करता [illegible]। चौरासी लाख जीव योनियों में भटकता रहा। उस अनिर्वचनीय तृष्णा [illegible] [illegible] शान्ति नहीं आयी। समग्र विश्व के जड़ रूप पाँच इन्द्रियों के [illegible] न किसी के हुए हैं, न हो रहे हैं, न हो [illegible] पावेंगे, न कभी स्थायी रहे हैं, [illegible] हैं, न रहेंगे। न कभी किसी के साथ गये हैं, न जाते हैं न जायेंगे। [illegible] [illegible] में विविध व्यथाएँ प्रदान करने वाले व घृणित [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] अनन्त आनन्द स्वभावी चैतन्यदेव, जो भूतकाल में था, वर्तमान में है [illegible] भविष्य में रहेगा। जिसने सब को जाना जानता है और जानेगा। [illegible] [illegible] जान रहा है और भविष्य में भी वैसी [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में भी तेरे [illegible] तादात्म्य सम्बन्ध [illegible], वर्तमान में [illegible] [illegible] [illegible] में भी रहेगा। तू अनन्त, असीम, अपरिवर्तित आनन्द का [illegible] [illegible] [illegible] को प्राप्त करने में यदि कोई बाधक है तो उसमें [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रधान है। इसी ने स्व-स्वरूप का भान भुलाया है।

के साथ उसको पसन्द किया एव जिसको पसन्द किया उसे प्राप्त करने के लिये अन्तर मे लालसा उत्पन्न हुई, उसी लालसा की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने लगा। किन्तु उपलब्धि मे विघ्न आने लगे। तब माया का प्रयोग किया। यदि समीक्षण दृष्टि से उस हेतु को जान लिया जाय, उसके साथ ममत्व सम्बन्धी लालसा को प्रशमित कर दिया जाय तो बाह्य निमित्त सम्बन्धी माया का असर नही रह सकेगा। अतएव भूतकाल सम्बन्धी चित्त वृत्तियो का निरन्तर अवलोकन करना अभीष्ट है। उसमे भी सजगता पूर्वक अवलोकन का अभ्यास करूँगा तो भलीभाति माया एव उसके निमित्त का समीक्षण हो पायेगा। कदाचित् भूतकालिक अवलोकन मे माया का हेतु दृष्टिगत न हो पाया तो वर्तमान सम्बन्धी कौनसी वस्तुओ की ओर चित्त-वृत्तियो का आकर्षण हो रहा है, यह देखना होगा। यदि वर्तमान मे भी उस बाह्य निमित्त का विज्ञान न हो पाया तो फिर भविष्य सम्बन्धी काल्पनिक अवस्था से चित्त वृत्तियाँ आकर्षित हो रही है, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए। इस अनुसन्धान मे यदि बाह्य हेतु ज्ञात हो पाया तो उसको प्रशमन करने का प्रयत्न करूँगा। कदाचित् बाह्य हेतु के साथ माया का सम्बन्ध न जुडा तो फिर आतरिक हेतुओ का अवलोकन आवश्यक होगा। आन्तरिक हेतुओ मे मुख्यता माया सम्बन्धी कर्म वर्गणा की एव उसके उदयगत स्थिति की है, उसका प्रभाव मेरे मानस तन्त्र को प्रभावित कर रहा है। उसका समीक्षण करना नितान्त आवश्यक है। उसमे पहली जागृति यह होगी कि मानस तत्र को समता से प्रभावित करूँ जिससे मानस तत्र पर माया का प्रभाव कार्यकर नही बनेगा, क्योकि समता का प्रकाश मानस तत्र पर प्रसारित होने से माया का अन्धकार रूप प्रभाव विलीन हो जायेगा।

यह कार्य भी अति दुष्कर है। अतएव आन्तरिक सम्यक् जागृति की नितान्त आवश्यकता रहती है। यह जागृति यदि गतिशील बनती रहे तो सत्तागत अनिकाचित कर्मस्कधो को भी समीक्षण दृष्टि के नेतृत्व मे रूपान्तरित किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर से सम्बन्धित जितने भी माया के निमित्त हैं उन सभी का समीक्षण किया जा सकता है। यह कार्य दु शक्य होने पर भी असम्भव नही। वह दु.शक्यता भी प्रारम्भिक अवस्था मे हो सकती है।

उस प्रारम्भिक अवस्था मे आने वाली कठिनताओ से साधक हतोत्साह न बने, किन्तु अधिक उत्साह के साथ कठिनता का स्वागत करता हुआ अभीष्ट लक्ष्य की ओर गतिशील रहे तो अग्रिम कार्य सुगम बन जाता है।

माया-दुर्बलता का प्रतीक

समता का साधक 'समता' शब्द श्रवण करते ही उसे जीवन मे स्थान देने के लिए उत्साहित हो जाता है। पर अनेको का वह उत्साह क्षणिक-अस्थायी होता है। क्षण भर मे उत्साह जागृत बनता है तो दूसरे ही क्षण मे वह विलीन

के साथ उसको पसन्द किया एव जिसको पसन्द किया उसे प्राप्त करने के लिये अन्तर मे लालसा उत्पन्न हुई, उसी लालसा की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने लगा। किन्तु उपलब्धि मे विघ्न आने लगे। तब माया का प्रयोग किया। यदि समीक्षण दृष्टि से उस हेतु को जान लिया जाय, उसके साथ ममत्व सम्बन्धी लालसा को प्रशमित कर दिया जाय तो बाह्य निमित्त सम्बन्धी माया का असर नही रह सकेगा। अतएव भूतकाल सम्बन्धी चित्त वृत्तियो का निरन्तर अवलोकन करना अभीष्ट है। उसमे भी सजगता पूर्वक अवलोकन का अभ्यास करूँगा तो भलीभाति माया एव उसके निमित्त का समीक्षण हो पायेगा। कदाचित् भूतकालिक अवलोकन मे माया का हेतु दृष्टिगत न हो पाया तो वर्तमान सम्बन्धी कौनसी वस्तुओ की ओर चित्त-वृत्तियो का आकर्षण हो रहा है, यह देखना होगा। यदि वर्तमान मे भी उस बाह्य निमित्त का विज्ञान न हो पाया तो फिर भविष्य सम्बन्धी काल्पनिक अवस्था से चित्त वृत्तियाँ आकर्षित हो रही है, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए। इस अनुसन्धान मे यदि बाह्य हेतु ज्ञात हो पाया तो उसको प्रशमन करने का प्रयत्न करूँगा। कदाचित् बाह्य हेतु के साथ माया का सम्बन्ध न जुडा तो फिर आतरिक हेतुओ का अवलोकन आवश्यक होगा। आन्तरिक हेतुओ मे मुख्यता माया सम्बन्धी कर्म वर्णगा की एव उसके उदयगत स्थिति की है, उसका प्रभाव मेरे मानस तन्त्र को प्रभावित कर रहा है। उसका समीक्षण करना नितान्त आवश्यक है। उसमे पहली जागृति यह होगी कि मानस तत्र को समता से प्रभावित करूँ जिससे मानस तत्र पर माया का प्रभाव कार्यकर नही बनेगा, क्योकि समता का प्रकाश मानस तत्र पर प्रसारित होने से माया का अन्धकार रूप प्रभाव विलीन हो जायेगा।

यह कार्य भी अति दुष्कर है। अतएव आन्तरिक सम्यक् जागृति की नितान्त आवश्यकता रहती है। यह जागृति यदि गतिशील बनती रहे तो सत्तागत अनिकाचित कर्मस्कधो को भी समीक्षण दृष्टि के नेतृत्व मे रूपान्तरित किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर से सम्बन्धित जितने भी माया के निमित्त है उन सभी का समीक्षण किया जा सकता है। यह कार्य दु शक्य होने पर भी असम्भव नही। वह दु:शक्यता भी प्रारम्भिक अवस्था मे हो सकती है।

उस प्रारम्भिक अवस्था मे आने वाली कठिनताओ से साधक हतोत्साह बने, किन्तु अधिक उत्साह के साथ कठिनता का स्वागत करता हुआ अभीष्ट लक्ष्य की ओर गतिशील रहे तो अग्रिम कार्य सुगम वन जाता है।

माया-दुर्बलता का प्रतीक

समता का साधक 'समता' शब्द श्रवण करते ही उसे जीवन मे स्थान देने के लिए उत्साहित हो जाता है। पर अनेको का वह उत्साह क्षणिक-अस्थायी होता है। क्षण भर मे उत्साह जागृत वनता है तो दूसरे ही क्षण मे वह विलीन

है तो भी नीद नही आ पाती। तद्रा एव आल-पपाल के स्वप्न देखता रहता है। विश्राम के अभाव मे जागृति अवस्था का तत्र निर्बल बनता चला जाता है। इसकी निर्बलता से शरीर का पाचन तत्र व्यवस्थित कार्य नही कर पाता और वह भी अस्त-व्यस्त बन जाता है।

पाचनतत्र की अस्तव्यस्तता से शरीर की पुष्टि के लिए जिन रसादि की जरूरत होती है वे मिल नही पाते और शरीर के अन्यान्य अवयवो को यथेष्ट खुराक रसादि से जो मिल पाती थी, उसके न मिलने से मास-पेशियो की दुर्बलता, शारीरिक एव अन्य तत्रो की क्षीणता धीरे-धीरे बढते रहने से सम्पूर्ण जीवन दुर्बल एव अस्त-व्यस्त बन जाता है। इस प्रकार माया दुर्बलता की प्रेरक बन जाती है।

माया—एक प्रच्छन्न कैंची

आन्तरिक भावो को अभिव्यक्त करने के लिए कभी-कभी बाह्य पदार्थों की उपमा दी जाती है। उपमा मे कुछेक अश से तुलना की जाती है, सर्वांश से नही।

माया आन्तरिक भावो की एक परिणति है। भावो का प्रवाह बिना किसी अडचन के बहता रहे तो वह एक पट का रूप ले लेता है। यदि स्वत सर्सात की स्थिति इधर-उधर होती है तो भी नदी का रूप ले लिया जाता है उसमे तटो की समानता न रहने पर भी जल के प्रवाह की प्राय समानता रहती है। जहाँ-जहाँ तट टेढे-मेढे होते हैं वहाँ-वहाँ पानी का प्रवाह टेढी-मेढी गति से चलता है। जहाँ तट सिकुड गये है तो वहाँ प्रवाह अविच्छिन्न रूप से बहता रहेगा, भले ही वह तटो के ऊपर से निकले।

आन्तरिक अध्यवसाय रूप प्रवाह यद्यपि बाह्य एव आभ्यन्तर निमित्तो को पाकर टेढा-मेढा भले ही हो जाए पर उन अध्यवसायो की प्रवाह धारा छिन्न-भिन्न नही होती है और न उनमे रुकावट ही पैदा होती है। वही विचारो का प्रवाह जब बाह्य एव आभ्यन्तर ऋजु निमित्तो को पाकर प्रवाहित होता है तो एक सुन्दर पट के रूप मे व्यवस्थित होकर अन्य अनेक प्राणियो के लिए सरक्षक बन जाता है। जैसे पट धरा पर बिछाने से नीचे की ठण्डक तथा तपन रुक जाती है और ऊपर होने पर वह ठण्डक एव ताप को रोकता है, वैसे ही ऋजु भावो के निमित्त को पाकर विचार जनकल्याण के लिए प्रशस्त एव सुखद साबित होता है। किन्तु पट को कैंची से छिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो वह किसी भी उपयोग मे नही आ सकता। पट एव कैंची दोनो बाहर दृष्टिगत होते है किन्तु विचार रूपी पट दृष्टिगोचर नही होता और उस ऋजु विचार-प्रवाह रूप पट को छिन्न-भिन्न करने वाली कैंची माया भी प्रच्छन्न होती है। इस प्रच्छन्न माया रूपी कैंची का कार्य आन्तरिक भावप्रवाह को छिन्न-भिन्न करना होता है। क्योकि जिस किसी कार्य मे जब माया का प्रयोग किया जाता है उस समय भावप्रवाह

बनावे तथा माया के कारण आन्तरिक गुण रूपी पौधे, जो शुद्ध बन रहे है, उनका प्रशम रूपी जल से सिचन हो और वे व्यवस्थित रूप से हरे-भरे हो सके, जिससे अनेको व्यक्तियो का जीवन ऊर्ध्वगामी बनता हुआ उभय लोको को सार्थक बनाने मे सक्षम हो सके एव समीक्षण ध्यान धारा के माध्यम से आत्मोत्थान रूपी महान् कार्य मे सक्षम बन सके।

दंभ का प्रथम पाद–माया

जीवन एक बहती हुई सरिता है। जीवन का प्रवाह जैसा है वैसा बहता रहता है। किन्तु जीवन का स्वामी चैतन्य देव जब किसी स्थल पर अपनी कमजोरी महसूस करता है एव सोचता है कि इस स्थान पर रहने वाले महानुभावो ने मुझे बडा माना है और मेरा सत्कार किया है। यद्यपि जैसा ये लोग मान रहे है वैसा मै नही हूँ और न इनके सत्कार का पात्र हूँ किन्तु पूर्वजो की चली आ रही प्रतिष्ठा के कारण यहाँ की जनता एव शासक यही सोच रहे है कि जैसे इनके पूर्वज आदर्श एव उच्च विचारो वाले थे, विद्वत्ता तथा विवेक की दृष्टि से इनके पूर्वजो के समकक्ष कोई नही था, उन्ही की यह सन्तान है, अतएव उन्ही गुणो से यह भी सम्पन्न होगा ऐसा मान कर सहज भाव से सादर सत्कार सम्मान करते है। किन्तु जिस पुरुष का सत्कार सम्मान किया जा रहा है वह पुरुष अपने आपको पूर्वजो के गुणो से शून्य समझता है एव मन ही मन पश्चात्ताप करता है कि मैंने कितनी मूर्खता की कि जिस समय मेरे पूर्वज मुझे निरन्तर साथ रखना चाहते थे एव सभ्यता तथा शिष्टाचार के साथ विद्वत्ता से सम्पन्न बनाने की कोशिश करते थे तथा किस समय कौनसा कार्य किस विवेक से निर्मित करना चाहिए, इसका भी ज्ञान कराते थे, राज सभा के अन्दर कैसे बोलना, कैसे रहना, किस प्रसग पर किन शब्दो का प्रयोग करना आदि का भी बोध कराते थे, उस समय मुझे खेल-कूद अच्छे लगते थे। मैं आलस्य, प्रमाद एव दुर्व्यसनो आदि मे उलझा रहा। मैंने अपने वर्तमान जीवन के क्षणो का मूल्यांकन करना नही सीखा। निकम्मे-दुष्टशील व्यक्तियो के ससर्ग मे रहकर समय का दुरुपयोग किया। इसी मे इतनी जिन्दगी गँवा दी। इससे मेरी एनर्जी-ऊर्जा अनर्थ दण्ड के रूप मे व्यर्थ के कामो मे विनष्ट हुई तथा ऐसे निरर्थक कार्यों मे रात और दिन बहती हुई शक्ति को बर्बाद करते रहने की कुटेव डाल ली। मेरा मानस तत्र उन्ही कुटेवो की ग्रन्थियो मे ग्रथित हो गया। मैंने यह बहुत बडा अकाज किया। स्वय के हाथ से ही स्वय के पैर पर कुल्हाडी मारने का कार्य किया। इस समय मे मैं निरक्षर भट्टाचार्य के तुल्य या मूर्खानन्दो का सम्राट् बना हुआ हूँ। ऐसी अवस्था मे भी लोग मेरे पिता के तुल्य मुझे सम्मान दे रहे हैं। अब मै यदि यह कहूँ कि मै अपने पिता के गुणो से वचित हूँ, मुझमे कोई योग्यता नही है, तो ये लोग जल्दी मानने को तैयार नही होगे और यदि मै अपनी समग्र राम-कहानी सुनाता हूँ तो लोग मुझे आवारा समझेंगे। मेरे जीवन की गरिमा

। उनके प्रभाव से मुझे राजकीय स्तर पर जो आमदनी होने वाली है, सकती। अन्य धन्धे मुझे आते नही। परिश्रम-जन्य कार्य मुझसे हो ... स्थिति मे अब मै क्या करूँ ? इसी चिन्तन मे वह खो जाता है ... समस्त कमजोरी को दबाने के लिए दंभ का सहारा लेता है ... आकृति को भी वैसी ही रौबदार बनाता हुआ मायाचक्र को ... है।

... मे मनुष्य अपने दंभ का पोषण करने के लिए माया को ... ता है। इससे माया सम्बन्धी केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं। इन ... होने पर अन्य केन्द्र अपना-अपना कार्य अपनी विधि से नही ... माया-केन्द्र द्वारा प्रभावित होकर ही प्राय कार्य सम्पन्न करते ... भी उसी प्रकार की प्रक्रियाओ मे सलग्न हो जाती हैं ... की आदत भी मायामूलक प्रक्रियाओ से युक्त बन जाती है। ... माया के सहारे दंभ का पोषण करता रहता है, उसमे ... इस बात की पूरी सावधानी रखता है और वह अपनी उस ... प्रभाव पैदा करने मे सलग्न हो जाता है कि जिससे विद्वान् भी ... है।

... प्रजा के ऊपर अपना पूर्ण दबदबा जमा लेता है। माया ... को कल्पित अर्थ बताकर अन्य की परीक्षा करवाता है। ... मायावी के बताये अर्थ को स्पष्ट नही कर पाते है तो ... को अनुत्तीर्ण कर देता है और दभी पुरुष मन ही मन ... मायामय दाव-पेच को जानता हुआ भी ऊपरी आकृति एव ... है कि जिससे कोई यह न जान सके कि यह मूर्खराज ... है। वह माया का अपने चारो ओर ऐसा दुर्भेद्य किला ... सहसा कोई प्रवेश न कर पाए। उस किले का भेदन ... विद्वान् कर नही सकता। यदि उसका सुराग कोई पाता ... प्रकार का दभी बनकर माया से ही भेदन करता है। अतएव ... [श्रेणी] माया ही कही जा सकती है। इसी प्रकार ... भी माया मूलक ही निर्मित हो सकते हैं। किन्तु ऐसा दभी ... अपने आपको चतुर माने, किन्तु वस्तुत वह ... ही कहा जा सकता है और अन्त मे उसका वास्तविक ... रहता।

ससार मे परिभ्रमण कर दभ एव माया के द्वारा उपार्जित कर्मों के दुष्फल का परिभोग होने पर भी उस अवस्था से निकास हो पाता है। अतएव साधक पुरुष को चाहिये कि वह दभ के स्वरूप को भली भाति जाने एव उससे दूर रहने का सतत प्रयत्न करे।

जब दभ रूपी मजिल ही तैयार न होगी तो माया के सोपान की आवश्यकता ही नही रहेगी। जब समीक्षण ध्यान के माध्यम से दभ का उन्मूलन हो जायेगा तो माया की द्विरूपता ही नही रहेगी। समीक्षण ध्यान से इस अमूल्य शरीर को ऐसे कार्यो मे नियोजित किया जा सकता है कि जिससे माया एव इससे सम्बन्धित परिवार का मूलोच्छेद हो जाय तथा चैतन्य देव की सरल, शुद्ध आन्तरिक वृत्तियाँ जीवन के कण-कण मे निखरने लगे। अन्ततोगत्वा जीवन रूप सरिता पवित्र स्वच्छ जल के तुल्य कोमल विनम्र होती हुई अन्य के मल को प्रक्षालित करने वाली बन जाय, ऐसी सरिता वाला जीवन ही इस लोक एव परलोक मे सुखप्रद होता है।

इस लोक मे रहते हुए ही समीक्षण ध्यान के माध्यम से तनाव, अशान्ति आपेक्षिक दु ख-द्वन्द्व समाहित हो जाते है। इसके प्रभाव से शान्ति एव आनन्दानुभूति के साथ जीवन की प्रत्येक घडी व्यतीत होने लगेगी। उन्ही पावन विचारो के अनुरूप पुण्य का बध तथा आत्म-शुद्धि होने लगेगी और यही रफ्तार समग्र जीवन मे चलती रहे तथा अन्तिम समय मे भी समस्त त्रुटियो का परिमार्जन कर आत्म-शुद्धि हेतु भविष्य के पाप हेतुओ का परित्याग कर समीक्षण ध्यान की अवस्था मे समभाव से ओतप्रोत रह कर यदि वर्तमान जीवन का सपरित्याग हुआ तो उस चैतन्य देव के लिए स्वल्प भवो मे ही सपरिपूर्ण आत्मिक साधना के साथ कर्मो का सक्षय कर मोक्ष प्राप्ति कर लेना सभव होगा। जिससे सदा सर्वदा के लिए परम सुख एव परम शान्ति का अनुभव करने लगेगा। यही इस अमूल्य जीवन की विशेषता है। इस विशेषता को साधने पर ही मन व तन की सार्थकता हो सकती है। अतएव साधको को इसी उद्देश्य के लिए निरन्तर जागृत बने रहने की आवश्यकता है।

इन पवित्र कार्यो से भिन्न जितने भी कार्य है उन सबको गौण मानता हुआ इस कार्य की सिद्धि हेतु जितना आवश्यक है उतना उसी रूप मे समझकर सम्पन्न करे एव मायादि दुर्गु णो से सदा बचता रहे, इसी मे मानव जीवन की सार्थकता है।

विषाद की सर्जिका—माया

मानव तन सृष्टि का भव्य रूप है। इस तन की विशेषता ऊपरी प्रसाधनो से नही, किन्तु आन्तरिक प्रसाधनो पर निर्भर है।

वेग के साथ प्रवाहित हो रही हैं, इस प्रबल वेगवती धारा का मोड सहसा कर नही पाऊगा । इस धारा को मोड देने मे अन्य मोड देने योग्य धारा का प्राबल्य पैदा करना होगा । इसके समकक्ष जब धारा प्राप्त होगी तब ही इसका परिवर्तन करने मे सक्षम बन पाऊँगा या नही, यह भी सदिग्ध स्थिति है । कदाचित् मोड को परिवर्तित कर भी दिया तो उसको प्रसाधन की ओर मोडना होगा ।

इतने दिन की अर्थोपार्जना सम्बन्धी धारा अर्थोपार्जन मे अभ्यस्त होने से शीघ्र प्रसाधन कार्य मे नही लग पाएगी, फिर भी शक्ति लगाकर प्रसाधन मे लगाऊँ और वह लग भी गयी तब भी उतना ही वह वेग पकडेगी एव बाहरी प्रसाधनो के सभी अगो को सुन्दर ढग से सजाने मे लगेगी, किन्तु प्राप्त अर्थ ही उसमे लगने लगेगा । भविष्य का स्रोत तो उसका बद ही रहेगा । सचित अर्थ-राशि उसमे व्यय होने लगेगी । प्रसाधन की तरुणाई के समीप ही अर्थ से निधि का सक्षय हो जायेगा । पुन इस कार्य को छोड अर्थ राशि हेतु शक्ति को मोडना अति ही दु शक्य होगा । अतएव अपर्याप्त अर्थशक्ति की अवस्था मे प्रसाधन की ओर नही मुडना है । अर्थोपार्जन मे जितनी शक्ति अति वेग के साथ लग रही है उसी मे उसे गतिशील रखना चाहिये । जब इतनी अर्थनिधि सचित हो जाय कि जिसका उपयोग प्रसाधन मे परिपूर्ण लगे और बाह्य प्रसाधन अपनी चरम सीमा को छू जाने पर भी अर्थनिधि का सक्षय न हो तभी मुझे अर्थोपार्जन की धारा को परिवर्तित करने का विचार करना चाहिये, उसके पहले नही ।

इस प्रकार के विचारो के साथ मानव चलता रहता है तो कभी भी अर्थ-लालसा की सतृप्ति नही हो पाती और उस अर्थ-लालसा की अतृप्त अवस्था मे ही मानवीय तन सक्षय को प्राप्त होने लगता है, अनेक व्यधियो का आश्रय स्थान बन जाता है । तन मन की अवस्था रोगादि से क्षत-विक्षत होने लगती है तब शरीर सबधी तात्त्विक अवस्था भी उत्तर देने लगती है 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' कहावत चरितार्थ होने लगती है । वह उस अर्थ लोलुपता की अतृप्ता-वस्था मे बाह्य प्रसाधन साध नही पाया । जिस शरीर के लिए बाह्य प्रसाधनो का ताना बाना बुना था वही मानवीय तन बाह्य प्रसाधनो के सर्वथा अयोग्य अवस्थाओ मे परिणत हो जाता है । अदम्य उत्साह एव उमग के साथ प्रारभ मे जो एनर्जी व्यय की थी उसकी प्राय समाप्ति हो चुकी होती है । ऐसा मानव नयी एनर्जी का साधन जीर्ण शीर्ण अवस्था को बना लेता है । वैसी स्थिति मे चित्तवृत्ति माया का आश्रय ले ताना-बाना बुनने लगती है । किन्तु माया का ताना-बाना भी सशक्त साधनो के साथ बुना जा सकता है, कमजोर साधनो के साथ माया को भी विफलता ही हाथ लगती है ।

माया का ताना-बाना पुरुष के लिए आशा का सबल देने वाला बन सकता है, किन्तु उस माया का प्रयोग जब अर्थोपार्जन की धारा के साथ प्रयुक्त

मिथ्यादृष्टिपन, जिससे प्रसाधन को ही सब कुछ माना, जो कि वस्तुत भ्रममात्र था ।

जीवन का प्रसाधन बाहर से नही भीतर से होता है। आन्तरिक गुणो का विकास भव्य तरीके से होता है तब भीतरी प्रसाधन सजने लगता है ।

सम्यक् श्रद्धा के साथ शरीर के अन्यत्व का वास्तविक श्रद्धान होने पर समीक्षण दृष्टि विकसित होती है । वह भीतर की व्यवस्थित 'सर्च लाइट' है । अन्दर उजाला होने पर बाह्य दृश्य वस्तुओ का प्रकाशन भी यथार्थ रूप मे होने लगता है । आन्तरिक जीवन का सद्गुणो से स्थायी प्रसाधन होने पर बाह्य प्रसाधन स्वत' ही बन जाता है ।

ट्यूबलाइट के भीतर करट का प्रवाह प्रकट होने पर ट्यूबलाइट भीतर से देदीप्यमान प्रकाश बाहर फैंकने लगती है । उस प्रकाश मे बाह्य वस्तुओ का अवलोकन सहज स्वाभाविक हो जाता है । यही स्थिति जीवन के भीतरी शक्ति से सदीप्त/उद्दीप्त होने मे है । मनुष्य की जठराग्नि अन्तरग मे रही हुई है । उसके व्यवस्थित रहने पर शारीरिक भीतरी एव बाह्य तत्त्व स्वत व्यवस्थित हो जाते है । जठराग्नि के मद होने पर बाहरी रूप से शरीर का कितना ही प्रसाधन किया जाए, फिर भी वह रौनकहीन-निस्तेज ही रहता है ।

जीवन को इस उपमा से उपमित करने पर मनुष्य का ध्यान सहज ही भीतरी प्रसाधन की ओर अग्रसर हो सकता है । उसी अवस्था मे समीक्षण दृष्टि सक्रिय बनती है एव सम्यग्ज्ञान का आलोक अन्तरतम मे व्यवस्थित हो जाता है । तब समीक्षण दृष्टि के माध्यम से माया-पिशाचिनी का स्वरूप एव उस माया के सर्जन हेतु भी अविदित नही रह पाते । अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह बाहरी प्रसाधनो मे अपनी आन्तरिक शक्तियो का दुरुपयोग न कर भीतरी प्रसाधनो मे सदुपयोग करे । बाहरी प्रसाधन तो स्वत सध जाता है । ऐसी स्थिति मे प्रत्येक कार्य मे विधिवत् सफलता प्राप्त होगी एव प्रसन्नता की वृद्धि होगी । माया रूपी पिशाची के जन्म का प्रसग ही नही आयेगा तो विषाद का प्रवेश नही हो पायेगा । अतएव मानव की इस लोक और परलोक को सुव्यवस्थित, सुखमय एव शान्तिप्रद बनाने की इच्छा हो तो उसे सम्यग्ज्ञान के आलोक मे समीक्षण दृष्टिपूर्वक भीतरी कूडा-करकट अवलोकित कर उसे बाहर विसर्जित कर देना चाहिये, जिससे मानवीय जीवन की सार्थकता सम्पन्न हो सके ।

माया अनैतिकता की निसरणी

वास्तविक नैतिकता व्यक्ति, परिवार, समाजादि मे विश्वस्तता का सूत्र है । विश्वास की भूमिका ही एक दूसरे के लिए विश्वस्त बनाने वाली बनती है । विश्वास के बल पर ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित चल पाता है । पुरुष

मिथ्यादृष्टिपन, जिससे प्रसाधन को ही सब कुछ माना, जो कि वस्तुत भ्रममात्र था ।

जीवन का प्रसाधन बाहर से नही भीतर से होता है । आन्तरिक गुणो का विकास भव्य तरीके से होता है तब भीतरी प्रसाधन सजने लगता है ।

सम्यक् श्रद्धा के साथ शरीर के अन्यत्व का वास्तविक श्रद्धान होने पर समीक्षण दृष्टि विकसित होती है । वह भीतर की व्यवस्थित 'सर्च लाइट' है । अन्दर उजाला होने पर बाह्य दृश्य वस्तुओ का प्रकाशन भी यथार्थ रूप मे होने लगता है । आन्तरिक जीवन का सद्‌गुणो से स्थायी प्रसाधन होने पर बाह्य प्रसाधन स्वत ही बन जाता है ।

ट्यूबलाइट के भीतर करट का प्रवाह प्रकट होने पर ट्यूबलाइट भीतर से देदीप्यमान प्रकाश बाहर फैकने लगती है । उस प्रकाश मे बाह्य वस्तुओ का अवलोकन सहज स्वाभाविक हो जाता है । यही स्थिति जीवन के भीतरी शक्ति से सदीप्त/उद्दीप्त होने मे है । मनुष्य की जठराग्नि अन्तरग मे रही हुई है । उसके व्यवस्थित रहने पर शारीरिक भीतरी एव बाह्य तत्त्व स्वत व्यवस्थित हो जाते है । जठराग्नि के मद होने पर बाहरी रूप से शरीर का कितना ही प्रसाधन किया जाए, फिर भी वह रौनकहीन-निस्तेज ही रहता है ।

जीवन को इस उपमा से उपमित करने पर मनुष्य का ध्यान सहज ही भीतरी प्रसाधन की ओर अग्रसर हो सकता है । उसी अवस्था मे समीक्षण दृष्टि सक्रिय बनती है एव सम्यग्ज्ञान का आलोक अन्तरतम मे व्यवस्थित हो जाता है । तब समीक्षण दृष्टि के माध्यम से माया-पिशाचिनी का स्वरूप एव उस माया के सर्जन हेतु भी अविदित नही रह पाते । अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह बाहरी प्रसाधनो मे अपनी आन्तरिक शक्तियो का दुरुपयोग न कर भीतरी प्रसाधनो मे सदुपयोग करे । बाहरी प्रसाधन तो स्वत सध जाता है । ऐसी स्थिति मे प्रत्येक कार्य मे विधिवत् सफलता प्राप्त होगी एव प्रसन्नता की वृद्धि होगी । माया रूपी पिशाची के जन्म का प्रसग ही नही आयेगा तो विषाद का प्रवेश नही हो पायेगा । अतएव मानव की इस लोक और परलोक को सुव्यवस्थित, सुखमय एव शान्तिप्रद बनाने की इच्छा हो तो उसे सम्यग्ज्ञान के आलोक मे समीक्षण दृष्टिपूर्वक भीतरी कूडा-करकट अवलोकित कर उसे बाहर विसर्जित कर देना चाहिये, जिससे मानवीय जीवन की सार्थकता सम्पन्न हो सके ।

माया अनैतिकता की निसरणी

वास्तविक नैतिकता व्यक्ति, परिवार, समाजादि मे विश्वस्तता का सूत्र है । विश्वास की भूमिका ही एक दूसरे के लिए विश्वस्त बनाने वाली बनती है । विश्वास के बल पर ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित चल पाता है । पुरुष

चाहे जिस क्षेत्र में रहे, प्रत्येक क्षेत्र में एक से अधिक सहयोगियों का सहयोग किसी न किसी रूप में अपेक्षित रहता ही है। उसकी अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता और न नकारना ही चाहिये।

जिस परिवार में जितनी भी एक दूसरे के प्रति निःस्वार्थ सहानुभूति भाव रूप नैतिकता व्यवहार में आयेगी, उस परिवार का भविष्य उतना ही उज्ज्वल अवश्य बनेगा। कदाचित् सभी सदस्य उस स्वरूप को न अपना सके तो एक व्यक्ति भी साहस एवं धैर्यपूर्वक प्रत्युपकार की कोई भी आकांक्षा रखे बिना सेवा एवं सद् व्यवहार में तन्मय होगा तो प्रारम्भ में भले ही उसको निराशा एवं असफलता दृष्टिगत हो किन्तु यदि उस व्यक्ति ने निराशा और असफलताओं को पीठ पीछे रखा एवं समभाव पूर्वक कर्तव्यपरायणता रखी, यही नहीं इतना सब कुछ समर्पित भाव रखने पर भी उस व्यक्ति के प्रति तिरस्कार असहयोग एवं विद्वेष का वातावरण निर्मित हो जाने पर भी यदि वह सबको उपेक्षित कर अपनी वास्तविकता नैतिकता के अनुरूप कर्तव्यपरायणता में तन्मय रहा तो यह सुनिश्चित है कि एक समय अवश्य ऐसा कि जिसमें समग्र पारिवारिक सदस्यगण उसके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे।

सत्कर्म-कर्तव्य पथ की दूरवर्ती मंजिल भी निरन्तर गमन से प्राप्त की जा सकती है। देर लगती है, अंधेर नहीं होता। कर्तव्यपरायण नीतिमान पुरुष जब निरन्तर निःस्वार्थ भावना से नैतिकता का पालन करता रहा तो देर होना सम्भावित है किन्तु अन्तत सफलता स्वत उसका चरण चूमेगी। इस सत्य का समर्थन करने के लिए कई पात्र दृष्टान्त के रूप में लिए जा सकते हैं। उनमें से महापुरुषों की दृष्टि से कई तीर्थंकरों का भी प्रसंग आ सकता है। श्रावकों की दृष्टि से अर्हन्नक (अरणक) आदि श्रावक ज्वलन्त उदाहरण हैं। सन्तु।

इस प्रकार की नैतिकता की परिधि सिर्फ परिवार तक ही सीमित न रहकर समाज, राष्ट्र एवं विश्व तक हो सकती है और इसके फलस्वरूप मानव मात्र सुख-शान्ति का श्वास ले सकता है। किन्तु खेद है कि वर्तमान में ठीक इसके विपरीत ही दृश्य प्रायः दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

मे व्यक्ति, परिवारादि यहा तक कि समग्र मानव जाति अनैतिकता एव बेईमानी से भरी हुई है। जब तक इन सभी मे परिवर्तन नही होता तब तक मेरे अकेले चलने से क्या कुछ होने जाने वाला है। ऐसा चिन्तन कर वह नीति एव कर्तव्य-परायणता से विमुख हो जाता है एव धीरे-धीरे ऐसे लोग उसी प्रकार के व्यवहार को स्वीकार कर लेते हैं। आज यही अव्यवस्था व्यक्ति 'परिवार' समाज एव राष्ट्रादि की बनी हुई है। किन्तु नैतिकता का सहारा लेकर चलने वाले महानुभावो ने यह सोचने का प्रयास नही किया कि मैं जिस नैतिकता के परिवेश मे चल रहा था वह वस्तुत नैतिकता थी भी या नही ? यदि वह अन्य व्यक्तियो की ओर से मिलने या न मिलने वाले सहयोग या असहयोग को देखने की अपेक्षा स्वय के अन्तर्वर्ती सहयोग को समीक्षण भाव से अवलोकित करता तो वैसी परिस्थिति उत्पन्न न होती। पर उसने अपना अभियान तो चालू किया किन्तु अपनी ओर देखने की अपेक्षा बाहर ही बाहर देखता रहा, जिससे अपने भीतर नैतिकता के नाम से पनपने वाली अनैतिकता का अवलोकन नही कर पाया। यदि वह सात्विक दृष्टि से अवलोकन करता तो उसकी विफलता का सूत्र उसे स्वय मे ही मिल जाता और उसको निराश या खिन्न होने की अवस्था नही आती, क्योकि उसने अपने को नैतिकता का परिवेश तो दिया किन्तु उसके साथ अनैतिकता के बीज भी बोए। इस कटु सत्य से उसकी बाह्य दृष्टि अवलोकित नही कर पायी। आत्मा के साथ चलने वाली अनादि कालिक माया ने उसको छल डाला।

उसका सूक्ष्म रूप आन्तरिक दृष्टि से इतना ओझल रहा कि जिससे यह आभास भी नही हो पाया कि मैं मायापूर्वक नैतिकता का वायुमण्डल बना रहा हूँ। जिस पुरुष को ऐसी जानकारी नही होती है उस पुरुष की दशा यत्किंचित् विफलता मिलने पर ही बदल जाती है। प्रारम्भ से ही यदि वह नैतिकता का वास्तविक स्वरूप समझकर चरण आगे बढाता तो उसकी गति कभी अवकुण्ठित नही होती। किन्तु उसने बोलचाल की भाषा मे आया हुआ वायुमण्डल नैतिकता के रूप मे पकड लिया और जो यथार्थ मे नैतिकता नही थी उसे नैतिकता मान बैठा। यही एक भयानक भूल रही जिसके परिणामस्वरूप नैतिकता के आवरण मे अनैतिकता अपना सिहासन दृढ करती रही और अन्ततोगत्वा उस अनैतिकता ने अपनी सफलता वरण करली। जिस समय नैतिकता की बात को मस्तिष्क मे लेकर उसने अपना कर्तव्य कर्म निर्धारित किया उसी के मूल मे अनैतिकता का बीज वपन हो गया था। जिसके कारण ऊपर से जनता के समक्ष नैतिकता का परिवेश आ रहा था किन्तु अन्तरग मे यह लालसा थी कि इससे लोग मेरी प्रशसा करे, मेरी प्रतिष्ठा बढे, मैं जिनके लिए यह कार्य कर रहा हूँ वे समय आने पर मेरा भी कार्य करे। इस प्रकार की सूक्ष्म लालसा जो उसके भीतर जन्मी थी, उसी भीतरी लालसा के साथ वह नैतिकता का कार्य करने लगा एव वायुमण्डल

निर्माण में सफलता मानने लगा। किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में वह यथार्थ नैतिकता का स्वरूप नहीं था। वह तो एक प्रकार का व्यापार था और उसमें परोपकार की भावना एवं सेवा का कार्य सहानुभूति एवं प्रत्युपकार के रूप में पाने की लालसा से चल रहा था। उस नैतिक व्यवहार के स्थान पर अन्य भावों का एवं यशकीर्ति का प्रलोभन था। दूसरों के लिए परोपकार का कार्य करना एवं अपने लिए उसके बदले में प्रत्युपकार चाहना स्नेह एवं सौहार्द की अपेक्षा रखना था। यशःकीर्ति की पताका का फहराते रहना ही उस परोपकार के बदले में प्राप्तव्य था। इसी फल के हेतु मनुष्य के चलने से प्रस्तुत फलाकांक्षा माया के रूप में पनप रही थी।

ऐसी माया की धार सीमित समय तक ही अन्तर में छिपी रहती है एवं प्रच्छन्न रहती हुई उस पुरुष के धैर्य को विघटित करती है। फिर उस तथाकथित नैतिकता के आवरण को हटाकर यह माया उस पुरुष के भी भीतर अनैतिकता का स्वरूप उभार देती है। इस प्रकार वास्तविक नैतिकता का उन्मूलन इस प्रकार की प्रच्छन्न माया कर डालती है। इस माया ने व्यक्ति को सच्चा नैतिक बनाने में मदद नहीं की। किन्तु उसे अनैतिक बनाने में वह शीघ्रता से सफल हुई। इस प्रकार यह माया अनैतिकता की निःसरणी फलित हो जाती है और इसका ताना-बाना जाल इतना प्रसरित हो जाता है कि जिससे वास्तविक नैतिकता विलुप्त हो जाती है। आज अधिकांश मानव अपना दोष न देखकर अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए दूसरों पर दोषारोपण करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रायः सर्वत्र अनैतिकता ही अनैतिकता दृष्टिगत हो रही है। इस प्रकार माया अनैतिकता की भी निःसरणी बन जाती है।

स्व-पर शान्ति के इच्छुक साधकों को चाहिए कि इस प्रकार जन-जन के मन में अनैतिकता को पनपाने वाली माया का भलीभांति समीक्षण करें एवं स्व-पर जीवन हितार्थ माया की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा को भी समाप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जबकि स्वयं का ऐसी ही पैनी समीक्षण दृष्टि से निरीक्षण करे जैसा कि पर का निरीक्षण किया जाता है।

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र यद्यपि भौतिक तत्वो से निर्मित है फिर भी उसमे ऐसी क्षमता सामर्थ्य निर्मित करदी गयी है जिससे उसके माध्यम से अच्छे एव बुरे समग्र तत्वो का तटस्थ भाव से निरीक्षण किया जा सकता है। वैसे ही समीक्षण दृष्टि भी ऐसी स्वच्छ नीति के साथ शक्ति सम्पन्न बनाली जाय तो उससे स्व-पर भेद से परे तटस्थ द्रष्टाभाव की भाति प्रत्येक अच्छी एव बुरी वृत्ति अवलोकित की जा सके एव अन्य विषयो मे भी जीवन समता का पथिक बना रहे। यह कार्य प्रारम्भ मे सुनिश्चित नियमित समय पर अदम्य उत्साह एव उमग के साथ दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास एव निरीक्षण-परीक्षण से सम्पन्न किया जा सकता है।

यह जीवन की एक बहुत बडी अमोघ उपलब्धि की अवस्था है। इस उपलब्धि के सहारे एक न एक दिन वास्तविक चिरस्थायी आनन्द को समुपलब्ध किया जा सकता है। अतएव सुज्ञ पुरुषो को इस अमूल्य तन की उपलब्धि के माध्यम से ऐसे स्वर्णिम अवसर को हाथ से कदापि नही निकलने देना चाहिए।

सुज्ञ पुरुषो की सुज्ञता की यही कसौटी है।

माया एक जबर्दस्त सशक्त पाश

विश्व के पदार्थ एक दूसरे से अनुबधित है। पारिवारिक सदस्य पारिवारिक जनो से अनुबधित हैं, सामाजिक सदस्य सामाजिक नियमावली से अनुप्राणित है, राष्ट्र के सदस्य राष्ट्रीय धर्म से प्रतिबधित हैं एव विश्व के प्राणी एक दूसरे के साथ यथायोग्य यथास्थान अनुबधित है।

प्राणियो की तो बात ही क्या, जड तत्त्व भी स्वयोग्य बन्धन से समन्वित हैं। छोटे से छोटा प्राणी अपनी जीवनयात्रा के निर्वाह हेतु पर सापेक्ष अनुबध को लेकर चलता है। चैतन्य देव भी स्वकृत कर्मों से अनुबधित है। इनके सभी बन्धनो की मूल भूमिका के रूप मे माया एक ऐसा कारण है जिसको जबर्दस्त सशक्त पाश कह सकते हैं। इसकी कुटिल चाल जीवन की किसी तन्त्री को सस्पर्श कर लेती है तो धीरे-धीरे सारी तन्त्रियो को अपने अधीन कर लेती है। अमरबेल का छोटासा टुकडा किसी वृक्ष की डाली पर गिर जाय तो धीरे-धीरे वह सारे वृक्ष को अपने जाल मे फँसा लेती है। उसके रस को चूसकर अपने को पुष्ट करती हुई वृक्ष को सुखा डालती है। लगभग इस एक देशीय रूपक से माया के पाश को समझने का प्रयास करना चाहिए। यह भी किसी छोटे तन्त्र को भी घेरने मे सफल हो जाती है तो समय पाकर समग्र जीवन सबधी तन्त्रो को अपने जाल मे फसा लेती है फिर यह जीवन रस से पुष्टि पाती हुई जीवन रूपी वृक्ष के सद्‌गुणो को सुखा देती है। माया के प्रभाव से मानव की गरिमापूर्ण अवस्था कुटिलता मे परिणत हो जाती है। उसकी मानसिक वृत्तिया किसी भी

वस्तु का ग्रहण, चिन्तन करती है तो उस माया के पाश में आबद्ध होकर ही करती है। क्योंकि माया का साम्राज्य जीवन के सभी केन्द्रों में छा जाता है। फिर जीवन की वास्तविक सहजता लुप्त हो जाती है। मन की गतिविधियां कभी-कभी बहुत लम्बी उड़ानें भरती हैं। इन लम्बी उड़ानों में पुरुष कभी सोच लेता है कि मेरे मन की वृत्तियां स्वतन्त्रता से बहुत लम्बी दूरी तक विचरण कर रही हैं किन्तु ऐसा सोचना भ्रम मूलक ही होता है, क्योंकि जब तक मानस-तन्त्र की जड़ों में माया का रस ओतप्रोत है तब तक बहुत दूरगामी मानसिक विचार-धारा भी उस माया रस से अनुप्राणित रहती है। जैसे वृक्ष की सबसे ऊपर निकलने वाली बारीक कोंपल भी वृक्ष के मूल से आने वाले रस से संयुक्त है, वैसे ही मानव की छोटी से छोटी एवं बड़ी से बड़ी समग्र मानसिक वृत्तियां माया पाश से संयुक्त ही होती हैं। अतएव मानसतन्त्र की तथा मानसतन्त्र से सम्बन्धित अन्य क्रियाकलाप भी माया की परिधि में ही चलते हैं। इस जबर्दस्त सशक्त पाश रूप माया का कितना कुछ प्रभाव आत्मा की वृत्तियों पर है, इस विषय का स्वतन्त्र विशद विवेचन हो सकता है किन्तु इस वक्त कुछ संक्षिप्त विवेचन की विवक्षा होने से कुछेक संकेत ही दिये जा रहे हैं। इन संकेतों से जीवन की अन्य प्रवृत्तियों के विषय में भी माया के प्रभाव को समझा जा सकता है।

मनुष्य की भाषा में, जो कि बाहर प्रसारित होती है, इस त्रिविध वक्र चाली माया का साथ में रहना कहा जा सकता है। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति इस गूढ़तम रहस्य को समझ नहीं पाते और दुनिया को कहते हैं कि मैं सरल भाषा में बोल रहा हूँ। वस्तुतः वह सरलता वास्तविक सरलता इसलिए नहीं कही जा सकती कि वह मिथ्याडम्बरत्व से संयुक्त है एवं भौतिक लालसाओं से अनुप्राणित है। मानव अज्ञानतावश भौतिक सुख को ही वास्तविक सुख मान बैठता है और उस कल्पित सुख के लिए विविध मायाओं से भाषा का प्रयोग करता है। चाहे वह बोलचाल की भाषा के रूप में हो या वस्तु प्रतिपादन के लिए भाषण रूप हो अथवा लेखन के रूप में हो।

अज्ञान की काली कबली से आच्छादित होने के कारण आत्मा पांच इन्द्रियो सबधी भौतिक विषयो को ही सब कुछ मानकर चलेगा। जैसे चैतन्य देव की यह माया रूपी जबर्दस्त पाश अनादिकाल से जकड कर चल रहा है। इस पाश को देखना और इससे विमोचन पाना भी चैतन्य देव के अधीन ही है।

चैतन्य देव को सद्गुरु के सान्निध्य से सम्यक् उद्बोधन मिलने पर जीवन का वास्तविक स्वरूप समझ मे आता है। उस समय अज्ञान की काली छाया हट जाने से ज्ञान का धवल प्रकाश उदित होता है। इसके साथ ही समीक्षण दृष्टि की दूरबीन तैयार हो जाय तो साधक इस जीवन का अवलोकन कर सके एव जिन-जिन अशुभ भावो से कर्मो का सर्जन किया उन अशुभ भावो के निमित्तो को जानने मे सक्षम बन सकता है। जब निमित्तो को जानने मे समर्थ होता है तब निमित्तो के मूल मे प्रच्छन्न रूप से रही हुई माया के पाश को अवलोकित कर सकता है। उसका अवलोकन होने पर उसके प्रति हेयता के भाव जागृत होते है एव किस विधि से उस जाल के ताने बाने को बिखेरा जा सकता है, उन उपायो का भी परिज्ञान हो जाता है। तब इस विकट पाश को विलग करना सहज बन जाता है। अतएव प्रत्येक सुज्ञ मानव को चाहिए कि वह प्रतिदिन समीक्षण ध्यान का अभ्यास करे एव अन्तरग तत्र को अवलोकन करने की क्षमता अर्जन करे।

माया : मैत्री की कट्टर दुश्मन

मानव दृश्य शरीर का पुतला मात्र ही नही है किन्तु शरीर मे व्याप्त आत्मा सहित मानव कहलाता है। मानव सृष्टि का उच्चतम प्राणी है। इसकी उपमा प्राणीवर्ग मे राजा अथवा जनतत्र मे प्रधानमत्री एव राष्ट्रपति से दी जा सकती है। इसका मूल्याकन अधिकाश प्राणी प्राय नही कर पाते है। वे इस जीवन से उपरत से लगते है। वर्तमान के मानवीय जीवन से असपुष्ट दीख पडते है। उनकी आन्तरिक इच्छा मानवीय जीवन से भी उच्चतर जीवन की ओर लगी रहती है। वे अपनी असतुष्टि को मिटाने के लिए विविध प्रयत्न करते रहते है। यहाँ तक कि इस शरीर को भी विसर्जित कर देते है। इसी प्रकार अतृप्त इच्छाओ के साथ आत्मा शरीर को विसर्जित कर किसी अन्य योनि को वर लेता है। वहाँ मानवीय तन जैसी क्षमता का अभाव रहता है। अतएव वहाँ अभीष्ट सिद्धि को वरण कर पाना सभव नही होता। उसकी परिपूर्ण सभावना मानव तन मे रहता हुआ चैतन्य देव कर सकता है। क्योकि सपूर्ण सम्यक् सतुष्टि की उपलब्धि का माध्यम मानवीय तन ही है। परन्तु इस मानवीय तन मे रहती हुई आत्मा अन्यान्य विपयो की प्राप्ति का प्रयत्न करती है। उनमे से कुछेक प्रयत्न ऐसे भी होते है जिनसे वह वर्तमान मे भी कुछ आपेक्षिक अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

चैतन्य देव अपने अहंभाव की संतुष्टि के लिए अन्य की सहानुभूति भी प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। साथ ही वह भी चाहता है कि मिलने वाली सहानुभूति किसी स्वार्थ एवं दबाव के साथ न हो। निःस्वार्थ एवं बिना दबाव के हो। ऐसी सहानुभूति को वह प्राप्त करने के लिए तत्पर भी रहता है। वह सहानुभूति लेना अवश्य चाहता है किन्तु अन्य को वैसी सहानुभूति देना पसन्द नहीं करता है अथवा यों कहें मान है कि वह प्रायः उसके विषय में सोचने का भी कष्ट नहीं करता। परन्तु चैतन्य देव की इस प्रकार की वृत्ति स्वार्थ मूलक ही मानी जावेगी। ऐसी स्थिति में किसी के साथ कदाचित् मैत्री सम्बन्ध स्थापित होता है तो वह अल्पकालीन होता है। उसमें स्थायी मैत्री की उपलब्धि नहीं होती। स्वार्थादि हेतुओं की पूर्ति होने तक वह चलेगी और उसकी कमी होने पर उसमें शिथिलता आये बिना नहीं रहेगी। इस दृष्टि से देखा जाय तो ऐसी वृत्ति मैत्री भाव की न होकर स्वार्थपूर्ति की प्रबल भावना होती है। वास्तविक मैत्री तो स्वार्थ आदि कारणों से निरपेक्ष निःस्वार्थ भावना के साथ चल पाती है। ऐसा पुरुष अपनी मैत्री को स्थायी रूप से निभाने का प्रयत्न करता है, न कि उसको विखण्डित करने का। किन्तु कभी-कभी निःस्वार्थ मैत्री को विनष्ट करने की भावना न रखता हुआ भी मनुष्य आन्तरिक तत्त्व पर नियंत्रण न होने से उस मैत्री भाव को समाप्त कर बैठता है। समाप्त करने के हेतुओं में से एक हेतु माया भी है। माया एक ऐसी आन्तरिक चिनगारी है जो सुन्दर एवं निःस्वार्थ मैत्री का विध्वंस कर ही देती है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि "माया मित्ताणि नासेइ" अर्थात् माया मित्रता को नष्ट कर देती है।

अन्तर के अवलोकन से ही अभिव्यक्त होगी। अतएव मैत्रीभाव के पहले अन्तर मे जो भावोर्मियाँ है उनका समीक्षण पूर्वक सूक्ष्मता से अवलोकन करे एव देखे कि इन भावोर्मियो मे जो मैत्री भाव की उत्सुक उर्मियाँ है, उनके इर्दगिर्द अथवा अन्दर किसी प्रकार के स्वार्थादि की वदबू तो नही है ? अथवा मैत्री को विनष्ट करने वाली माया की छाया मे तो उर्मियाँ पल्लवित नही हो रही हैं, यदि साधक को लगे कि स्वार्थ आदि की दुर्गन्ध इन उर्मियो के अन्दर छिपी है तो नि स्वार्थ भाव की अवस्था से उनको दुर्गन्ध से रहित बनावे। तदनन्तर समीक्षण दृष्टि को पैनी बनाकर माया की झायी को एकाग्रतापूर्वक अवलोकित करें। जब साधक को ज्ञात हो कि माया की छत्रछाया मे ये भावोर्मियाँ कार्य कर रही है और इन भावोर्मियो से सही मैत्री भाव का विकास नही होगा, क्योकि वास्तविक मैत्री भाव के प्रारम्भ के साथ ही साथ माया को जहरीले कीटाणु लग जाने से सच्ची मैत्री भाव का विकास नही हो सकेगा। अतएव माया की जाया से ग्रस्त इन उर्मियो को अमायी भाव के प्रकाश मे उपस्थित किया जाय जिससे कि अग्रिम मजिल का कार्य सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न किया जा सके। इस प्रकार मैत्री भाव का समीक्षण करने के पश्चात् माया सबधी कर्म स्कन्धो का समीक्षण करे। क्योकि उर्मियो से माया की छाया को दूर करने पर भी माया के कर्म स्कन्ध यदि वैसे के वैसे बने रहे और उनका समीक्षण न हुआ तो उन कर्म स्कन्धो के उदय आने पर पुन माया की छाया पवित्र भावोर्मियो को आच्छादित कर सकती है। वैसी स्थिति मे निर्मल मैत्री भाव का स्वरूप धूमिल हुए बिना नही रहेगा। उनके धूमिल होते-होते साधक की यत्किंचित् भी असावधानी हुई तो वह मैत्री या स्वार्थ मे परिणत हो जायेगी या विनष्ट हो जायेगी। उसके अभाव मे अभीष्ट सिद्धि का स्वप्न अधूरा ही रहेगा अथवा स्वप्न स्वप्न रूप मे ही रह जायेगा।

ऐसी स्थिति मे चैतन्य देव की गतिविधियाँ अनादिकालीन गतिविधियो के समकक्ष बनने की सभावना बनी रहती है और यह अमूल्य मनुष्य तन हाथ से निकल जायगा। अतएव साधक को समीक्षण ध्यान की विधाओ मे जिस विधा का सुविधापूर्वक उपयोग किया जा सकता है उस विधा को अपनाकर समीक्षण ध्यानपूर्वक समीक्षण दृष्टि के विकास मे जरा भी असावधानी नही बरतनी चाहिए।

असावधानी ही प्रमाद का प्रमाण है। यही प्रमाद अन्य अनेक पापो का जनक बनता है। प्रमाद माया का तो आलय-स्थान बन जाता है। यह माया का आलय-स्थान न बने एव जागृति की अवस्था सदा वृद्धिगत होती रहे, यह ललक अन्त करणपूर्वक रही तो समीक्षण ध्यान की अभिवृद्धि मे साधक को सफलता अवश्य मिल सकती है।

माया प्रगति में बाधक

चैतन्य देव स्वोपार्जित कर्मों के परिणामस्वरूप विविध योनियों में उत्पन्न होकर चातुर्गतिक संसार के आवर्त में अनवरत चलने वाला प्राणी प्रगतिशील है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह अनादिकालीन चक्र में ही गमन करता रहता है। यथा आत्मा शुभाशुभकर्म स्वयं उपार्जित करती है और उपार्जित कर्मों के परिणामस्वरूप फलोपभोग के लिए विभिन्न योनियों में, गतियों में जाती है।

योनियाँ एवं गतियाँ स्वयं सीमित हैं एवं सीमित क्षेत्र में ही आबद्ध हैं। आत्मा उसी क्षेत्र एवं गतियों में पुनः-पुनः गमनागमन करती रहती है। इसलिए इस गमनागमन को आवर्त कह सकते हैं। जिस प्रकार पाँच इन्द्रियों के विषय में आत्मा प्रवेश पाती है और उन्हीं इन्द्रियों की परिधि में भ्रमण होता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तथा पंचेन्द्रिय से पुनः एकेन्द्रिय तक एवं भावात्मक दृष्टि से राग द्वेषादिक विषय व कषायों में, तथा विषय व कषायों से रागद्वेषादि में यह आवर्तन होना प्रगति नहीं पुनः पुनः गमन है, चक्कर खाना है।

प्रगति तभी कही जा सकती है जबकि इन आवर्तों से ऊपर उठा जाय, आश्रवों के द्वारों को रोका जाय एवं सम्यक् चारित्र धर्म के अनुपालन से संवर एवं निर्जरा का स्वरूप उपलब्ध करते हुए आत्मा के चरम विकास की ओर अग्रसर होने का प्रयास किया जाय। इस प्रकार के सम्यक् पुरुषार्थ को प्रगति में नियोजित पुरुषार्थ कहा जायेगा। यह पुरुषार्थ आत्मा को इन योनियों एवं चातुर्गतिक आवर्त से विमुक्ति दिलाने वाला है। वास्तव में यह प्रगति का स्वरूप है। इस आध्यात्मिक प्रगति की साधना के लिए जितना भी प्रयास किया जायेगा उतना ही वह प्रवाह प्रगति करने वाला होगा।

पापो को हरा-भरा बनाने वाली माया है । यह माया प्राणी को अपने ही घेरे मे, हिंसादि पापो मे उलझाये रखती है । प्रगति मे सदा सर्वदा बाधक बनती आ रही है । यह इसकी अनादिकालीन अवस्था है । जब माया शल्य से कुछ उपरत बना जाता है तभी प्रगति के चरण चिह्न अहिंसादि व्रत प्रगति के सोपान बन पाते है । इसलिए शास्त्रकारो ने कहा—"नि-शल्यो व्रती" जो शल्य रहित अवस्था को प्राप्त करता है वही व्रती होता है । जब तक शल्य है तब तक प्राणी व्रती के स्वरूप को अन्तर मे स्वीकार नही कर सकता । शल्य के तीन भेद कहे गये है –माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य । यह त्रिपुटी लगभग समकक्षता के साथ रहती हे तथापि इसमे प्रथम स्थान माया शल्य को मिला है ।

इससे सूर्यालोक की तरह सुस्पष्ट होता है कि शल्य के रहते प्रगति के प्रतीक अहिंसादि व्रत एव उनका परिपालन शक्य नही और इन अहिंसादि व्रतो के सम्यक्रीत्या परिपालन के बिना प्रगति का पथ प्रशस्त नही हो पाता । इसीलिए कहा गया है कि माया प्रगति मे बाधक है ।

सच्चा साधक बडे ही साहस के साथ इस लक्ष्य को ध्यान मे रखकर प्रगति के पथ पर चल पडता है । अणुव्रत एव महाव्रत रूप प्रतिज्ञाएँ भली-भाति अगीकार कर आदर्श उपस्थित करता है । महाव्रतो को स्वीकारने वाले के प्रति जनता का अधिक आकर्षण बढ जाता है जनता उनको वदनीय व पूजनीय मानने लगती है । कभी-कभी वह इतनी हर्षविभोर हो कर मानने लगती है कि यह सत महापुरुष दुनिया का उद्धार एव वीतराग देवो द्वारा प्रतिपादित अतिदुष्कर महाव्रत धारण करके चल रहे है । ऐसे पुरुषो की सेवा एव आशीर्वाद ही भव्यो के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण एव मगलप्रद है ।

साधारण जनता को गहराइयो का ज्ञान कम होता है । वह प्राय श्रद्धाप्रधान हुआ करती है । साधु-महात्मा भी इस प्रगति के पथ को स्वीकार करके शास्त्रो का कुछ मात्रा मे अध्ययन, अध्यापन भी कर पाते है, उनकी व्याख्याए करते है और जनकल्याणकारी उपदेश भी देने लगते है । श्रोतागण भी अपूर्व चाह के साथ श्रवण करते है । उनको अच्छा लगता है तो कभी-कभी अन्य मार्गी पुरुष भी श्रवण के लिए पहुँचते है । वे भी जनरल उपदेश से प्रभावित होकर कुछ प्रशसा कर बैठते है, क्योकि उन व्यक्तियो के लिए ऐसा स्वरूप एव ऐसा उपदेश कुछ अपूर्व होता है ।

साधु के परिवेश से चलने वाले तो बहुत होते है किन्तु वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट मार्गानुसार चलने वाले उनमे बहुत नही होते । उनका दोष भी क्या ? उनको वास्तविक प्रगति का पथ मिल नही पाने से जो कुछ भी अपूर्ण व्यक्तियो

है। वे कभी-कभी इतने आकर्षित हो जाते हैं कि वीतराग देव के अनुयायी बन जाते है और उन वीतराग देव के सतो को गुरु रूप मे स्वीकार कर चलने लगते है।

वीतराग देव द्वारा प्ररूपित प्रगति का वास्तविक मार्ग आगम शास्त्रो का अध्ययन एव गहनता से चिन्तन-मनन करने वाले विरल व्यक्ति ही जान पाते हैं। जो परम्परा से वीतराग देव के अनुयायी कहलाते है किन्तु आधुनिक विद्या एव भौतिक विज्ञान के विशिष्ट विज्ञाता होते है वे तथा इसी प्रकार के वायुमण्डल मे पले पौषे साधारण जन समुदाय भी प्रगति क्या है, इसको सही अर्थ मे समझ नही पाते। यश की क्षुधा किस साधु मे पैदा हो जाती है वह आधुनिक राजनैतिक एव तथाकथित प्रगति के नाम पर चलने वाली बातो को लेकर अपने व्याख्यान मे विषय का प्रतिपादन करते हैं और वास्तविक प्रगति से अनभिज्ञ मनुष्यो को प्रकारान्तर से उत्साहित करते हैं एव धर्म के प्रचार-प्रसार की लुभावनी बाते बतलाने लगते है। उन बातो को लेकर आधुनिक युग के लौकिक सुधारको के तौर-तरीके की बाते अपनाने लगते हैं। प्रचार-प्रसार के नाम पर हिसा के प्रचण्ड शस्त्र विद्युतादि को काम मे लेने लगते है। परिग्रहादि के प्रपच मे पडते है। शास्त्रीय मर्यादाओ का उल्लघन कर बिना पुरुषो की साक्षी के बहिनो को एव तरुणियो को बैठाकर प्रगति के नाम पर वस्तुत अप्रगति का शिक्षण देने लगते हैं।

प्रगति के रहस्य को जानने वाले बहुत विरल होते है। वे विरल पुरुष इस प्रवृत्ति को पसन्द न करते हुए कुछ विरोध का स्वर भी मुखरित करते है, किन्तु वास्तविक प्रगति के मर्म को न जानने वाले लोग एव उनको प्रश्रय देने वाले साधु उनको पुराण पथी कहकर खिन्न करने का प्रयास करते है एव प्रगति के नाम पर साक्षात् हिंसादि कार्यों मे सलग्न होते हुए भी नही सकुचाते। ऐसे साधु जीवन की वास्तविक प्रगतिमय व्याख्या माया के साथ करने लगते है।

यह माया उन व्यक्तियो के मस्तिष्क मे छा जाती है, जिससे उनको अप्रगति अर्थात् आवर्तभूत ससार के हेतुओ मे ढकेल देती है। ससारावर्त के हेतु हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रहादि है। इन हेतुओ को छोडकर ही तो प्रगतिशील बने। माया मे न्यूनता आई जिसके परिणामस्वरूप परिपूर्ण पथ महाव्रत अगीकार किये। किन्तु माया मे यशकीर्ति का चोगा पहनाकर साधक को पुन विमोहित किया। फलस्वरूप साक्षात् हिंसा करता हुआ भी अपने आपको अहिंसक कह सत्य का गला घोटा। भगवान् के प्रगति पथ पर चलने वालो को अचौर्य व्रत अनिवार्य है। उसे तोडना आज्ञा भग करना है।

ब्रह्मचर्य सम्बन्धी नियमो का उल्लघन कर अब ब्रह्मचर्य की ओर बढे, परिग्रह के प्रपच से अपरिग्रह महाव्रत का हनन कर अन्य पापो का भी असेवन

बनती है। मनुष्य उसकी ओट में अपने अभीष्ट पदार्थ को प्राप्त करने मे प्राय: सफल हुआ करते हैं। रावण ने सीताजी को उठाने के लिए जोगी का वेश बनाया जिससे कि सीता के मन के किसी कोने मे आशका ही न हो सके कि यह मेरे साथ यत्किचित् भी धोखा या ठगाई करेगा। सीताजी आशका को किंचित् भी स्थान न देते हुए सद्भावनापूर्वक दान देने के लिए तत्पर बनी। किंतु गूढ मायावी न दान का पात्र था और न योग का अधिकारी ही था। ठीक इसके विपरीत भोग का कामी एव प्रबल माया के साथ षड्यत्र रचने वाला था। परिणामस्वरूप सती को हरण करने मे सफल बना। यह तो नमूने के तौर पर विषय को स्पष्ट करने के लिए उल्लिखित कर दिया। किंतु ऐसे षड्यत्र दुनिया मे कितने रचे जाते है एव किन-किन विषयो को लेकर षड्यत्र की सरचना की जाती है और उनकी पृष्ठभूमि माया किस प्रकार प्रमुख पार्ट अदा करती है, यह सुज्ञ व्यक्तियो से जानकारी करने पर अविदित नही रहता। अतएव यह भलीभाँति जाना जा सकता है कि इस प्रकार की माया से जीवनी-शक्ति का कितना अपव्यय होता है। कुछ क्षणो के लिए सफलता मिल जाने पर भी अन्तत विफलता ही हाथ लगती है। साथ ही साथ षड्यत्र के खुल जाने या चिरकालोपार्जित प्रतिष्ठा स्वल्प समय मे ही समाप्त हो जाती है। जनता के बीच मायावी पुरुष अविश्वसनीय बन जाता है। प्राय लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। अदना-सा व्यक्ति भी तिरस्कृत करने मे पीछे नही रहता। ऐसे समय मे वह कितना ही शपथ खाकर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न करे किंतु सहज स्वाभाविक रूप मे प्राप्त पूर्व की प्रामाणिकता आ नही सकती। जैसे मिट्टी के कोठे को कितना भी धोया जाय, चमक पा नही सकता। मोती का पानी उतरने मे देर नही लगती।

अमूल्य मानव तन की कितनी दयनीय दशा एव विडम्बना! इस तन से उत्कर्ष-साधना का सुन्दर योग मिला था, किंतु निकृष्टता मे जीवन का उपयोग हुआ। ऐसा जीवन पशु से भी निकृष्ट होता है। पशु का तो फिर भी दुनिया विश्वास कर सकती है। पालतू श्वान भोजनादि समग्र सामग्री के पास रहने पर भी मुँह उसमे नही डालता वल्कि अन्यो से उनकी सुरक्षा करता है। मालिक उस समय कितना विश्वास करता कि उसके भरोसे सारे घर को भोजन सामग्री सहित खुला छोडकर चला जाता है। इतना विश्वास तो दूर रहा, उससे हजारवाँ अश भी मायावी का विश्वास नही करता है।

अविश्वसनीय जीवन क्या वस्तुत जीवन कहा जा सकता है पर क्या किया जाय! यह माया महत्त्वपूर्ण जीवन एव प्रतिष्ठा को धूल मे मिला देती है। विश्वसनीयता का हरण कर निष्प्राण वना देती है। ऐसी अवस्था मे कोई भी व्यक्ति विशेषत सुज्ञ पुरुष रहना कैसे पसन्द कर सकता है। अतएव सुज्ञ पुरुष को चाहिए कि वह सदा इस कुटिल माया से अपने आपको दूर रखे एव प्रारम्भ

से ही ऐसा मानव मन्द एवं मधुर व्यवहार करे कि जिससे जीवन की गरिमामय प्रतिष्ठा बनी रहे। जीवन का [illegible] होता है। [illegible] व्यवहार का [illegible] रहता है और जीवन के साथ-साथ [illegible] विकसित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति भी अपने जीवन का [illegible] जीवन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण बनता है। ऐसा जीवन जीने वाला पुरुष भले ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न न हो, किन्हीं पदवियों से अलंकृत न हो फिर भी उसका गरिमामय जीवन आदर्श कहा जा सकता है। जिस पुरुष ने इस प्रकार अपने जीवन की गरिमा अर्जित की है वह पुरुष अन्तिम मंजिल पर भी सहज ही पहुँच सकता है।

आध्यात्मिक जीवन मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण सार्थक जीवन है। इस जीवन का शुभारम्भ [illegible] तथा जो समीक्षण ध्यान साधना का अभ्यास करने लगता है और माया के स्वरूप का समीक्षण दृष्टि से [illegible] रहता है वह [illegible] एक दिन समीक्षण ध्यान [illegible] के साथ-साथ [illegible] बन जाता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष मानसिक धरातल में प्राप्त [illegible] का सदुपयोग करें तथा [illegible] आदि के माध्यम से कभी भी माया के [illegible] में न आवें। इससे दुःख, द्वन्द्व, अशान्ति एवं तनाव आदि विकारों [illegible] उत्पन्न हो जाती है, जिससे शान्ति का [illegible] भी [illegible] हो जाता है। अतएव न स्वयं किसी प्रकार के प्रपंच की [illegible] करें न दूसरों के [illegible] का सृजन करने का प्रयत्न करें और न ऐसे [illegible] के [illegible] का अनुसरण ही करें। क्योंकि माया के [illegible] से [illegible] के [illegible] कुछ भी नहीं होता। इसके विपरीत नियमित समीक्षण [illegible] की [illegible] करना तथा अधिक से अधिक समय समीक्षण ध्यान में [illegible] का प्रयत्न करें [illegible] तथा [illegible] समीक्षण दृष्टिकोण ही [illegible] की [illegible] एवं माया के [illegible] का [illegible] रहेगा। [illegible] से [illegible] समतामय जीवन का [illegible] किया जा सकेगा और [illegible] भी [illegible] बन सकेगा। इसी से मानव जीवन की सार्थकता है।

राग-द्वेष की गठरी

परिधि मे है तो वे व्यक्ति के भीतर मे भावो को जगाने मे सक्षम बन सकते है परन्तु जिसके भावो को उद्वेलित करने के लिए चैतन्य देव प्रयत्न करता है यदि उस व्यक्ति के मन मे उद्वेलित होने योग्य भाव नही है तो उसके भी निमित्त नही बन सकते और यदि उद्वेलित होने योग्य भाव है तो निमित्त बन सकते हैं, किंतु उद्वेलित करने वाला व्यक्ति उद्वेलित करने मे सक्षम हो तब। किंतु आन्तरिक कारण बाहर के निमित्त भाव मे भी सक्रिय हो सकते है एव किसी अन्य को भी निमित्त बना सकते है।

ऐसे कारण ससारी आत्माओ के लिए मुख्यतया राग और द्वेष है। राग-द्वेष की परिणति माया के सहयोग के बिना विशेष कामयाब नही होती। द्वेष कदाचित् उससे किसी समय विलग भी हो जाय किंतु राग तो उसके बिना पनप ही नही सकता। अतएव माया को राग-द्वेष की सहचरी कहा जा सकता है।

जब माया अपना तीव्र रूप धारण करती है तो स्पष्टतया राग और द्वेष को अधिक सबल मिल जाता है और इससे ससार की विविध योनिया मिलती है। यदि प्रशस्तता के साथ इसकी परिणति बन पाती है तो पुण्य प्रधान योनि अथवा ससार से विमुक्ति पाने के लिए देव गुरु धर्म का सबल भी प्राप्त हो सकता है किंतु अप्रशस्तता की अवस्था मे जीवन का अध पतन ही होता है। अतएव साधक को सावधानीपूर्वक इस माया के तत्र को समझने की आवश्यकता है। यह तभी सभव है जबकि समीक्षण दृष्टि का भव्य विकास हो पाए। इसके बिना साधक धोखा खा सकता है, गफलत मे पड सकता है। कभी माया को ही अपना सबल भ्रांतिवश बना लेता है अथवा यह माया विविध प्रकार का रूप बनाती रहती है और यह कभी अच्छे परिवेश मे आकर चित्त वृत्ति को विनष्ट करने की चेष्टा करती है। जिस प्रकार पूतना ने दुधमु हे श्रीकृष्ण को दूध पिलाने की स्नेह-मयी वृत्ति दिखाकर समाप्त करना चाहा किंतु श्रीकृष्ण उसको पहचान गये और उसी की समाप्ति कर दी, वैसे ही साधक समताभावपूर्वक समीक्षण दृष्टि से माया के विविध रूपो को पहचान सकता है एव यथास्थान उनको समाप्त करने का सत्पुरुषार्थ भी कर सकता है। यह एक ऐसा कठिन कार्य है कि जिसमे खजर की धार पर चलने वाला जितना सजग रहता है उससे भी कही अधिक, जागृति की आवश्यकता है। क्योकि यह माया कभी-कभी बडे-बडे धुरधर योगियो को भी चकमा देने से नही चूकती। साधारण व्यक्तियो का तो फिर कहना ही क्या? इसलिये योगी साधक भी साधना की पूरी उपलब्धि नही कर पाते। गृहस्थावस्था मे रहने वाला मुमुक्षु साधक कभी साहस करके यत्किंचित् साधना मे सलग्न भी होता है किंतु उसका उस साधना क्षेत्र मे मार्ग जितना चाहिए उतना प्रशस्त नही बन पाता। इस रहस्य को गृहस्थ साधक समझ भी नही पाते, क्योकि उनकी अधिकाश जीवनी शक्ति सासारिक पदार्थों को उपलब्ध करने मे व्यय हो जाती है। वे साधना करने की कोशिश करते है किंतु शक्ति का सचय

लिए 'समीक्षण' कहा है। क्योकि इस 'सम्' के अलावा जितना भी ईक्षण देखना है वह राग-द्वेष एव माया मूलक ही देखना है। इसलिए यथार्थ उन्नति का प्रबल एव प्रमुख सहायक समता दर्शन ही है। जब कभी भी जिस किसी भी मानव को सभी दु खों एव दोषो से छुटकारा पाना होगा, इसी समता स्वरूप को जीवन मे ढालने पर ही होगा, समता का परिपूर्ण रूप समीक्षणदृष्टिपूर्वक जीवन मे आयेगा तो वही जीवन वास्तविक परम सुख एव परम शान्ति पायेगा। उस परिपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मानव को चाहिए कि जितनी भी शक्ति साधन के रूप मे उपलब्ध हुई है उसका उपयोग यथासभव समतामय जीवन को निर्मित करने के लिए किया जाय एव समीक्षणदृष्टि को दृढीभूत बनाया जाए। वह स्थायित्व रूप को प्राप्त करती हुई तीक्ष्ण बनती रहे। स्थूल पदाथो को एव प्राणियो के स्थूल रूप को समीक्षण दृष्टिपूर्वक देखने का अभ्यास करे। स्थूल से सूक्ष्म को भी समीक्षण भाव से देखने के लिए समीक्षण दृष्टि मे ऐसी क्षमता अर्जित करे कि जिससे वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर देखने के लिए अधिकाधिक अभ्यस्त बने स्थूल शरीर की प्रवृत्ति को उसी दृष्टि से देखते हुए सूक्ष्म शरीर को देखने की सामर्थ्य आ जाय और वह सूक्ष्म से आगे की अवस्था को भली-भाँति अवलोकित कर सके ऐसी अकुण्ठित समीक्षा दृष्टि का स्वरूप उपलब्ध करे। तथा क्रोध समीक्षण से आगे बढते हुए मान का समीक्षण हो तथा मान समीक्षण से भी आगे बढकर माया का समीक्षण करे। माया का समग्र रूप से समीक्षण हो जाने पर वही सतुष्टि का अनुभव न करे, किन्तु चेतना मे अपूर्व उत्साह भरते हुए यही चिन्तन करे कि माया से भी परे जितनी अवस्थाएँ हैं, उन सभी अवस्थाओ का समीक्षण मैं भलीभाँति कर पाऊँ। इस प्रकार इस मानवीय जीवन मे रहता हुआ चैतन्य देव बाह्य एव आभ्यन्तर सभी बधनो का समीक्षण करता हुआ उनसे सदा-सदा के लिए विलग होने का जो चरम लक्ष्य है, उसी चरम लक्ष्य की सम्पूर्ति इस जीवन के रहते हुए जितनी अधिक कर पाऊँ उतना ही जीवन सफल है। अन्त करण मे ऐसा दृढ सकल्प जागृत होने पर राग-द्वेष की सहचरी माया का उन्मूलन शक्य बन सकता है।

माया मिच्छादिट्ठी

हा हा अरे चैतन्य देव तेरी यह कैसी दशा बन गई। तू समग्र सृष्टि का सारभूत तत्व है। सम्पूर्ण सृष्टि मे जितने भी अनतानत पदार्थ है वे सब चैतन्य स्वरूप की समकक्षता को नही प्राप्त कर सकते। यह चेतना ही इस सृष्टि मे विभिन्न पर्यायो के धारण करने की क्षमता रखती है। विभिन्न पर्यायो मे रूपान्तरण करने की ज्ञानपूर्वक क्षमता तेरे मे ही है। तू मानव और देव भी बन सकता है। मानव-पर्याय मे रहता हुआ ईश्वरीय सिद्ध स्वरूप की पर्याय पाने की क्षमता भी तेरे अन्दर ही दबी हुई है। केवलज्ञान केवलदर्शन का स्वरूप भी तेरे पास आवृत्त है, अनन्त अव्याबाध आनन्द एव अखण्ड शान्ति का अक्षय कोष भी

लिए 'समीक्षण' कहा है। क्योंकि इस 'सम्' के अलावा जितना भी ईक्षण देखना है वह राग-द्वेष एव माया मूलक ही देखना है। इसलिए यथार्थ उन्नति का प्रबल एव प्रमुख सहायक समता दर्शन ही है। जब कभी भी जिस किसी भी मानव को सभी दु खो एव दोषो से छुटकारा पाना होगा, इसी समता स्वरूप को जीवन मे ढालने पर ही होगा, समता का परिपूर्ण रूप समीक्षणदृष्टिपूर्वक जीवन मे आयेगा तो वही जीवन वास्तविक परम सुख एव परम शान्ति पायेगा। उस परिपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मानव को चाहिए कि जितनी भी शक्ति साधन के रूप मे उपलब्ध हुई है उसका उपयोग यथासभव समतामय जीवन को निर्मित करने के लिए किया जाय एव समीक्षणदृष्टि को दृढीभूत बनाया जाए। वह स्थायित्व रूप को प्राप्त करती हुई तीक्ष्ण बनती रहे। स्थूल पदाथो को एव प्राणियो के स्थूल रूप को समीक्षण दृष्टिपूर्वक देखने का अभ्यास करे। स्थूल से सूक्ष्म को भी समीक्षण भाव से देखने के लिए समीक्षण दृष्टि मे ऐसी क्षमता अर्जित करे कि जिससे वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर देखने के लिए अधिकाधिक अभ्यस्त बने स्थूल शरीर की प्रवृत्ति को उसी दृष्टि से देखते हुए सूक्ष्म शरीर को देखने की सामर्थ्य आ जाय और वह सूक्ष्म से आगे की अवस्था को भली-भाँति अवलोकित कर सके ऐसी अकुण्ठित समीक्षा दृष्टि का स्वरूप उपलब्ध करे। तथा क्रोध समीक्षण से आगे बढते हुए मान का समीक्षण हो तथा मान समीक्षण से भी आगे बढकर माया का समीक्षण करे। माया का समग्र रूप से समीक्षण हो जाने पर वही सतुष्टि का अनुभव न करे, किन्तु चेतना मे अपूर्व उत्साह भरते हुए यही चिन्तन करे कि माया से भी परे जितनी अवस्थाएँ है, उन सभी अवस्थाओ का समीक्षण मैं भलीभाँति कर पाऊँ। इस प्रकार इस मानवीय जीवन मे रहता हुआ चैतन्य देव बाह्य एव आभ्यन्तर सभी बधनो का समीक्षण करता हुआ उनसे सदा-सदा के लिए विलग होने का जो चरम लक्ष्य है, उसी चरम लक्ष्य की सम्पूर्ति इस जीवन के रहते हुए जितनी अधिक कर पाऊँ उतना ही जीवन सफल है। अन्त करण मे ऐसा दृढ सकल्प जागृत होने पर राग-द्वेष की सहचरी माया का उन्मूलन शक्य बन सकता है।

माया मिच्छादिट्ठी

हा हा अरे चैतन्य देव तेरी यह कैसी दशा बन गई। तू समग्र सृष्टि का सारभूत तत्व है। सम्पूर्ण सृष्टि मे जितने भी अनतानत पदार्थ है वे सब चैतन्य स्वरूप की समकक्षता को नही प्राप्त कर सकते। यह चेतना ही इस सृष्टि मे विभिन्न पर्यायो के धारण करने की क्षमता रखती है। विभिन्न पर्यायो मे रूपान्तरण करने की ज्ञानपूर्वक क्षमता तेरे मे ही है। तू मानव और देव भी बन सकता है। मानव-पर्याय मे रहता हुआ ईश्वरीय सिद्ध स्वरूप की पर्याय पाने की क्षमता भी तेरे अन्दर ही दबी हुई है। केवलज्ञान केवलदर्शन का स्वरूप भी तेरे पास आवृत्त है, अनन्त अव्याबाध आनन्द एव अखण्ड शान्ति का अक्षय कोष भी

तेरे पास है। तू दातार और विज्ञाता भी है। तू दीन-दुःखी नही है। अज्ञानता अपने निजी स्वरूप मे नही रखता। इतना सब कुछ होते हुए भी तेरी यह दीन-हीन व कगाल-सी अवस्था क्यो हो रही है। कभी-कभी तो पशु-पक्षियो से भी हीनतर अवस्था, यहाँ तक कि निगोद के घेरे मे हीनतम अति सकुचित दशा बन जाया करती है। यह सब क्यो ?

तूने कभी सोचा समझा, चिन्तन-मनन किया। यदि मनुष्य पर्याय मे रहते हुए चिन्तन मननपूर्वक क्षण भर के लिए भी अपनी वास्तविक सत्ता को एव पारमार्थिक स्वरूप को समझ लिया होता तो यह अवस्था अधिक समय तक टिक नही सकती थी। किन्तु हे चैतन्य देव ! तूने अपने निजी स्वरूप एव सामर्थ्य को कभी पहचाना नही, किन्तु पर स्वरूप (जड तत्त्व) को ही सर्वोपरि माना, सब कुछ समझा। उसी के लिए तूने अपने समग्र सामर्थ्य को समर्पित किया। उसी मे अहर्निश सलग्न रहा। ममता एव गाढ मूर्च्छा के साथ उसी को पकडा। गूढतम एव कुटिला माया की छाया मे उसी की आज्ञा का अनुसरण किया। जिससे तूने कभी ससार के विकसित पर्याय को भी पाया, किन्तु उस विकसित पर्याय के साथ भी तेरा आसक्ति भाव जड के प्रति ही रहा। उसके परिणाम-स्वरूप विकसित पर्याय से शनै -शनै अविकसित पर्याय की ओर बढने लगा। इसी सिलसिले मे उतरते हुए हीनतम पर्याय मे जा पहुँचा। गूढ माया की इतनी बेहोशी रही कि जिससे कुछ भी समझ नही पाया। उस अनतानुबधी माया के चाबुको ने तेरी इतनी मरम्मत की कि जिससे तेरे विकसित स्वरूप का घेरा अविकसित अवस्था की चरम सीमा तक पहुँच गया। तुझे मालूम नही रहा कि यह अनतानुबधी माया मिथ्यात्व की सहचरी है और इसने तुम्हारी ऐसी पर्याय भी बना दी कि जिससे सत्तर क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक उस माया की गोद से बाहर न आ सके। जिस प्रकार अत्यधिक मदिरा सेवन करने वाला पुरुष इतना बेहोश हो जाता है कि उसको कोई कही गिराये तो भी उसको भान न रहे कि कहाँ पडा हूँ ? क्या कुछ हो रहा है ? श्वान मेरे मुँह के झागो को चाट रहे हैं और टागे ऊपर कर मुँह मे मूत रहे हैं। इस सबका उसे पता नही रहता। उस पुरुष को किसी पहाडी की चोटी पर ले जाकर पटक दिया जाए। वहाँ से लुढकता हुआ नदी के प्रवाह मे आ गिरे और कुछ पानी की शीतलता से अथवा लुढकने की चोटो से नशा कम पडे और वह कुछ होश मे आये तब उसको यत्किचित् भान होता है कि किस कारण मेरी दुर्दशा हुई है। 'धर्म अच्छा है' यह शब्द ही उसको प्रिय लगता है फिर भी वह वास्तविक धर्म को नही समझ पाता है। 'धर्म अच्छा है' इस वाक्य से उसके पुण्यवानी का योग कुछ पनपने लगता है और यदि इस तरह से अपेक्षाकृत बेहोशी मे भी कुछ उठने का प्रयास करने लगता है तो वह कुछ आगे बढ सकता है। किन्तु यह दशा भी अनन्तकाल के बाद कदाचित् कदाचित् आ पाती है। वैसे हे चैतन्यदेव ! तुमको महामिथ्यात्वरूपी पति के साथ

अनन्तानुबधी माया ने सत्तर क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक की अवस्था का अनुभव कराया । उससे ससार की विकट योनियो की पहाडी रूपी घाटियो मे लुढकते हुए देशोन करोड पूर्व कम एक क्रोडाक्रोडी सागरोपम की मिथ्यात्व की अवस्था अवशेष रही तब ऐसे चैतन्य को कुछ भान हुआ और धर्म शब्द प्यारा लगने लगा । फिर भी कौनसा धर्म यथार्थ है, इसका भान नही हो पाता है । किन्तु धर्म शब्द की स्तुति अच्छी लगने से शुभ भाव का योग उपस्थित होता है ।

इस अवस्था को यथा प्रवृत्ति करण कहा जा सकता है । इस दशा मे यदि किसी सद्गुरु का सयोग मिले और उनके उपदेश श्रवण से मन मे हर्षोल्लास पैदा हो अथवा स्वाभाविक तौर पर मिथ्यात्व मोह कर्म की ओर कम होने पर अपूर्ण कारण की अवस्था परिणामो मे पैदा हो जाय तो उस समय मिथ्यात्व के ग्रन्थिभेद के साथ-साथ अनन्तानुबन्धी माया की भी गूढ ग्रन्थिया विखण्डित होती है । तदनन्तर सिद्धान्त की दृष्टि से सम्यक्त्व रत्न उपलब्ध हो सकता है, किन्तु कर्मग्रन्थकार के अभिप्रायानुसार अपूर्वकरण के पश्चात् अनिवृतिकरण एव अन्तरकरण की प्रक्रिया मे सम्यक्त्व भाव का प्रादुर्भाव होता है, अस्तु ।

जहाँ तक सम्यक्त्व रत्न की एक समय की भी उपलब्धि नही होती है तब तक अनन्तानुबन्धी माया से चैतन्य देव घिरा रहता है । उस सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति से पूर्व वह गूढ माया के अथवा अन्य शब्दो मे कहे कि वह गठीली माया के चगुल मे फँसा रहता है । उस अवस्था से लेकर पूर्व अवस्था मे चैतन्य को नहो छोडने वाली माया अपने मिथ्यात्वरूपी पति के साथ रहती है, अतएव 'माया-मिच्छदिठ्ठी' की सज्ञा वह चैतन्य देव पाता है ।

जैसे ही सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय हुआ कि वैसे ही माया रूपी मिथ्यात्व की स्त्री अज्ञानरूपी अन्धकार सहित चैतन्य देव से विलग हो जाती है । उस अवस्था मे फिर मिथ्यात्व के रहने का प्रसग ही नही आता । अतएव वही चैतन्य देव सुमति-स्त्री के साथ रहता है । इस अवस्था मे चैतन्य देव को यदि वीतराग देव के अगो का रहस्य ज्ञात हो जाय तो समता ध्यान की प्रक्रिया एव समतादर्शन को सम्यक्रीत्या समझा एव जाना जा सके । इसी जानकारी मे यदि वह साधक आन्तरिक सम्यक्अनुभूति को उपलब्ध करने का प्रयत्न करे एव समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपनी समीक्षणदृष्टि को विकसित करता निरन्तर आगे गति करे तो अप्रत्याख्यानी तथा प्रत्याख्यानो माया का समीक्षण करते हुए सज्वलन माया को अवस्था मे पहुँच जाता है । किन्तु यदि साधक अशुभ योग की अवस्था मे लग जाता है तो उसकी ध्यानसाधना विच्छिन्न हो सकती है एव समीक्षणदृष्टि की सर्चलाइट से भी बढकर रोशनी की अवस्था भी धूमिल होने लगती है । वहाँ पर साधक के सभलने का प्रसग न आया तो वह उस अवस्था से नीचे भी उतर सकता है और यदि सभल जाता है तो शुभ योग की अवस्था से अपनी

ध्यानसाधना एव समीक्षणदृष्टि को चमकाता हुआ अप्रमत्त अवस्था मे रहने लगता है। वहाँ अन्य साधन सामग्री का सयोग उपलब्ध हो तो उस साधन सामग्री का उपयोग करता हुआ सज्वलन सबधी माया का भी समीक्षण कर लेता है। वह समीक्षण यदि दृढीभूत अवस्था का बन पाय तो अग्रिम उच्चतम श्रेणी को वर सकता है और यदि साधना मे कुछ पोचापन रहा तो अग्रिम अवस्था मे बढने को बजाय पुन पूर्वावस्था मे लौट सकता है। अतएव समीक्षणध्यान के साधको को बहुत ही सतर्कता रखने की आवश्यकता रहती है।

यह साधना कल्पतरु या अमृत कलशादि की उपमाओ से भी उपमित नही की जा सकती। यह तो अनुपमेय साधना का स्वरूप कहा जा सकता है। इसी साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर सदा-सदा के लिए दुःख–द्वन्द्व एव विषमताओ का अन्त किया जा सकता है। विश्व मे कितनी भी साधनाएँ क्यो न हो, वे साधनाएँ कितनी भी महत्त्वपूर्ण एव जनप्रभावी रही हो, उन सबके अन्तर मे समता-साधना प्राण रूप से व्याप्त रहती है। तभी वह साधना कुछ प्राणवान् बन सकती है। किन्तु अन्ततोगत्वा सपरिपूर्ण चरम लक्ष्य को पाने के लिए उन सभी साधनापद्धतियो को समता-साधना मे रूपान्तरित होना ही होगा। यह त्रिकाल अबाधित अखण्ड शाश्वत सत्य है। इसको व्यक्ति तत्क्षण समझ पाये या न समझ पाये पर एक न एक दिन समझना ही होगा। तभी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व मे वास्तविक शक्ति सम्पन्नता पा सकेगा। पारिवारिक इकाई को सुव्यवस्थित कर सकेगा, सामाजिक धरातल पर समता समाज-रचना का भव्य स्वरूप उभार सकेगा। राष्ट्रीय धरातल पर समता का साम्राज्य निखर सकेगा एव एक न एक दिन समग्र विश्व समता की सुखद छत्र छाया मे जीवन का महत्त्वपूर्ण मूल्याकन कर सकेगा।

इस अवस्था को प्राप्त करने मे देर हो सकती है, अन्धेर नही। विषमता के पुजारी, ममता के स्वामी जब तक जीवन का अद्भुत महत्त्व नही समझ पायेगे तब तक समता की छत्रछाया मे विषमता की ज्वाला उगलते रहेगे एव व्यक्ति आदि इकाइयो को सत्रस्त करते रहेगे। किंतु एक न एक दिन ममता की दासता से मुक्त होकर विषमता की ज्वाला को समता रूपी शीतल पानी से शमित करने के लिए अग्रसर होना ही पडेगा।

विश्व मे किसी भी कार्यप्रणाली के अन्दर सुव्यवस्था एव सुफल की अवस्था आ सकती है। अतएव प्रत्येक प्रतिभासम्पन्न पुरुष को चाहिए कि अनेकानेक ठोकरे खाने, रुलाने, भटकने एव विषमता की ज्वाला मे झुलसने तथा ममता की दासता मे गिडगिडाने की अपेक्षा प्रारम्भ मे ही जीवन का [illegible] मूल्याकन करते हुए समता की साधना मे तन्मय बनकर समीक्षणदृष्टि को अभिव्यक्त करने मे अपने मे अपने आप को समर्पित कर दे। यही श्रेयस्कर है।

मानव का तुच्छ स्वार्थ, सकीर्ण मनोवृत्ति, कजूसी, ईर्ष्याभाव, अपनी कमजोरी को छिपाने की वृत्ति, झूठी श्लाघा, अन्य को गिराने की मनोवृत्ति, गुप्त पाप की आदत, बिजिगीषुता, यशोकीर्ति की लालसा, राजनैतिक व्यसन, नेतागिरी की आदत, मानसिक दुर्बलतादि माया के अनेक कारण होते है। उनमे से कतिपय ही यहाँ दर्शाये गये है।

पुरुष भौतिक सुखसामग्री को एव उसके अनुरूप साधनो को महत्त्व देता है। वह तुच्छ स्वार्थ भरा होता है क्योकि भौतिकसामग्री स्वय नाशवान् है। सारे ससार का जूठन है। उनको सुखसाधन मान कर उनकी प्राप्ति के लिए छल करता है, माया-गूढ-मायादि की मनोवृत्ति से उनको प्राप्त करने का प्रयास करता है अत. वह अज्ञानी है, क्योकि उसने अविनाशी तत्त्व को पहचान नही पाया।

दृश्य जगत् से परे अदृश्य सृष्टि की उसको जानकारी नही रहती। वह चर्मचक्षुओ से जितना कुछ दृष्टि मे आता है उसी को सम्पूर्ण मानकर चलता है। अविनाशी तत्त्व सहित प्राप्त अमूल्य जीवन को तुच्छ स्वार्थ के लिये विनष्ट करने की कोशिश करता है एव मायादि माध्यमो से स्व-पर को धोखा देता है। उन्ही परिणामो मे आयुसबध होने पर दुर्गति का दु ख स्वय उपार्जित करता है। इनका निवारण तभी हो सकता है जबकि वह वीतराग देव के द्वारा उपदिष्ट मार्ग को श्रेयस्कर माने एव भेदविज्ञान के साथ सम्यक् श्रद्धानपूर्वक ज्ञान एव चारित्र की उपलब्धि करे। जड और चेतन का यथार्थस्वरूप जानकर तुच्छ स्वार्थ का परित्याग करे, अथवा उनके प्रति रही हुई ममता की निवृत्ति को एव उसके दुष्परिणाम को समीक्षण दृष्टि से देखे।

साधक यदि तटस्थ द्रष्टा भाव से सदाचरण का स्वरूप जीवन मे साकार बनाये तो इस तुच्छ स्वार्थ से परिपूर्ण वृत्ति से निवृत्ति पा सकता है, अन्यथा चातुर्गतिक ससार तो उसके पल्ले है ही।

मानवीय पर्याय मे रहा हुआ चैतन्यदेव विविध आयामो मे से गुजरता है। उसमें उसके कार्य करने का प्रसग आ सकता है एक दूसरे के साथ परस्पर का सहयोग भी अपेक्षित रहता है। कभी आदान-प्रदान करने का प्रसग भी आता है। उस समय पडौसी उदार भावना से सहयोग देता है और आवश्यकता पडने पर सहयोग लेता भी है। यह परस्पर का एक-दूसरे के ऊपर उपकार का कार्य है। इसलिए ज्ञानी जनो ने कहा है "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"। इस सिद्धान्तानुसार विशाल मनोवृत्ति के साथ एक दूसरे के सहयोग पर निर्भर रहता है किंतु जिसकी मनोवृत्ति सकुचित होती है वह दूसरो से सहयोग ले लेता है, परन्तु सहयोग देने के प्रसग पर हिचकिचाता है। शक्ति होते हुए भी सहयोग न देना योग्य नही है। सहयोग की आवश्यकता महसूस करने वाला व्यक्ति जब किसी से सहयोग

मांगता है और जिससे सहयोग मांगता है वह यदि सकीर्ण मनोवृत्ति का है तो शक्ति होते हुए भी सहयोग देने की भावना न होने से वह कोई तरीका ढूँढता है। वह सोचता है कि सीधा इन्कार करूगा तो अच्छा नही लगेगा। अतएव वह माया का सहारा लेकर कहता है कि जिस वस्तु की आप चाह कर रहे है वह मेरे पास नही है। क्या करूँ, होती तो मैं अवश्य दे देता। सहयोग की आकांक्षा रखने वाला चतुर है तो वह उसकी इस माया की वृत्ति का अनुमान कर लेता है। वह सोचता है कि इसके पास वह वस्तु पर्याप्त मात्रा मे है। मैं सदा के लिए तो ले नही रहा हूँ, पुन लौटा दूँगा। इस बात को यह जानता भी है। फिर भी सकीर्ण मनोवृत्ति के कारण यह माया का सहारा ले रहा है। इससे यह अपना अहित कर रहा है और अन्य पर भी इसका अच्छा असर होने वाला नही है, केवल ज्ञान की कमी के कारण अपनी तुच्छ मनोवृत्ति का परिचय दे रहा है। यह कुछ भी करे, मैं अपनी मनोवृत्ति को उदार ही रखूँगा। कभी भी मन मे सकीर्णता को प्रवेश नही करने दूँगा। मुझे कोई सहयोग प्रदान करे या न करे, मैं तो उनको सहयोग देता रहूँगा। दुनिया की वस्तुएँ किसी के साथ जाने वाली नही हैं और न किसी के पास स्थायी रूप से रहने वाली है। फिर क्यों मैं माया का आश्रय लूँ। क्यो न उदारतापूर्वक आवश्यकतानुसार लोगो को देता रहूँ। इससे मेरी मनोवृत्ति मे जहाँ कही, किसी विषय मे, सकीर्णता की वासना होगी वह भी साफ हो जायेगी। विशालता एव व्यापकता, विस्तृत होने पर अन्य अनेक सहयोगी व्यक्तियो की सकीर्ण वृत्ति भी समाप्त होगी। समीक्षण ध्यान की पृष्ठ-भूमि दृढ होगी। जीवन की सार्थकता के साथ-साथ आत्मशुद्धि का कार्य भी बन पायेगा। अतएव समताभावपूर्वक प्रत्येक विषय का समीक्षण दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें जिससे सभी प्रकार की सकीर्ण मनोवृत्तियो का निराकरण हो जाए।

ही मुझे प्रेरणा मिलेगी जिससे मै भी आगे बढ सकूँगा। इस प्रकार विचार करके वह ईर्ष्या को प्रतिस्पर्धा के रूप मे परिवर्तित कर देता है। द्वेष-ईर्ष्या के वशीभूत मानव बढने वाले का अहित सोचता है, उसको गिराने, बर्बाद करने के लिए दृढ सकल्पी बनता है। प्रतिस्पर्धा की भावना मे गिराने, साधन अवरुद्ध करने एव बर्बाद करने का विचार नही होता है। किन्तु अन्य की वृद्धि को देखकर प्रसन्न होना, साधनो को बढने पर खिन्नता न लाना, किन्तु बढने वाले से प्रेरणा लेना और दोनो का हित चाहता होता है। यही ईर्ष्या-द्वेष एव प्रतिस्पर्धा मे अन्तर है।

समीक्षण ध्यानी सोचता है कि अनिवार्यता के कारण भौतिक द्रव्यो को जुटाना पडता है। उसकी समझ-बूझ यथावत् होती है। शरीर निर्वाह सम्बन्धी वस्तुओ को वह सर्वोपरि नही मानता। उनके लिए ईर्ष्या-द्वेष तो दूर रहा, प्रतिस्पर्धा भी नही करता है। यह समीक्षणध्यानी की बहुत बडी विशेषता होती है। वह अपने सम्यग्ज्ञान एव ध्यान के बल से ईर्ष्या-द्वेषमय वृत्ति के निवारण के साथ-साथ प्रतिस्पर्धा बृत्ति को भी महत्त्व प्रदान नही करता है, अतएव उसे माया के प्रयोग की आवश्यकता ही नही रहती। इस विचारधारा मे ईर्ष्या-द्वेष को कोई अवकाश ही नही रहता है।

विचक्षण पुरुषो को इहलोक और परलोक सम्बन्धी हानि से बचने के लिए माया के निमित्त भूत तत्त्वो मे शक्ति का नियोजन न कर जीवन-विकास की ओर शक्ति का सप्रयोग करना ही श्रेयस्कर है।

गुह्य पाप

मानव कुसगति से, अज्ञानता से एव आनुवशिक परम्परा से कई गुह्य कुटेवो का व्यसनी बन जाता है। कई बार ऐसी आदतो का शिकार बन जाता है कि वे छुटाये नही छूटती। प्रत्युत् दिन-प्रति दिन बढती ही जाती है। किसी कुटेव का अन्य को पता न लग पाये, इसलिए वह माया पूर्वक वर्ताव करता रहता है। किसी को शका-आभास होने पर वह उससे जानकारी चाहता है तो वह उसे जानकारी देते सकुचाता है, भयान्वित होता है और माया के साथ-साथ अनर्थ, अनर्गल बाते करता है, अपने वर्तमान जीवन को अविश्वसनीय बनाने के साथ ही पाप कर्मो का उपार्जन अत्यधिक मात्रा मे करता है। परिणामस्वरूप मानसिक रोग से रुग्ण बन करके इहलोक और परलोक को बिगाड लेता है। जीवन की ऐसी बर्बादी से बचने के लिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि भूतकाल मे आसेवित दोष परिपूर्ण वृत्तियो को योग्य गुरु के पास आलोचना के रूप मे अन्त करण से प्रकट करदे। जो भी दड प्रायश्चित्त हो उसे सहर्ष स्वीकार करके शुद्धीकरण करले, भविष्य मे कदाचित् होने वाली गुह्य दोष सबधी प्रवृत्तियो से

सावधानीपूर्वक बचता रहे और कभी ऐसी प्रवृत्ति हो जाए तो उसके लिए पश्चात्ताप करता हुआ समीक्षण दृष्टि से उसका निष्कासन करे, जिससे गुप्त दोष माया का हेतु न बन सके।

विजिगीषु वृत्ति

कभी-कभी अक्षरी ज्ञान की बदौलत अथवा मति ज्ञानावरणीय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से प्राप्त बुद्धि बल का उपयोग करते हुए मनुष्य दूसरे को पराजित करने में वाचाल हो जाता है। तब वह इस अवसर की प्रतीक्षा में रहता है कि मैं वाद-विवाद में दूसरे को पराजित कर विजयी बनूँ। तर्क-वितर्क के साथ अन्य को जीतने की इच्छा से माया का सेवन भी करता है। शब्दों का छल पूर्वक प्रयोग करता है, वितण्डावाद पर उतारू हो जाता है। सरल स्वभावी, ज्ञानी जन इस शब्द-छल में पडने की अपेक्षा मौन धारण कर लेते हैं। वे माया से बचकर अपनी शक्ति का सरक्षण कर लेते हैं। उस सरक्षण की गयी शक्ति को आत्म-विकास एव जीवन-निर्माण की ओर समायोजित करने की इच्छा से विवाद में नहीं उतरते हैं। इससे मायावी पुरुष अपने को विजयी समझ, अहकार की पुष्टि करने लगता है। वह यह नहीं सोचता है कि माया-छल कपट पूर्ण दाव पेंच मेरे अमूल्य जीवन को ही छल रहे हैं। इससे झूठे मद पोषण के अतिरिक्त कोई लाभ होने वाला नहीं है। अतएव विजिगीषु-वृत्ति धारण करके मैं क्यों माया का सेवन करूँ। अपनी शक्ति को माया में निरर्थक न लगाऊँ और समीक्षण ध्यान के माध्यम से आगे बढूँ, जिससे मेरा आध्यात्मिक अभ्युदय सम्पन्न हो सके।

नेतागिरी

मानव-जन्म एक प्रकार से अबोध अवस्था में होता है। उस समय मुख्यतया आनुवंशिक संस्कार की प्रधानता रहती है। किन्तु शिशु अवस्था से ज्यों-ज्यों आगे बढता है त्यों-त्यों अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ देखता है। अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। उनमें से किसी को अनुशास्ता के रूप में देखता है और किन्हीं को अनुशास्य के रूप में।

अनुशास्ता को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान पर पाता है। उसकी आदरास्पदावस्था एव अनेकानेक प्रकार से होने वाले सत्कार एव सम्मान को देखता है। इससे उसकी आन्तरिक वृत्ति स्पन्दित होती है और वह सोचता है कि मुझे भी कभी यह महत्ता प्राप्त हो सकती है। इस आन्तरिक लालसा को आरम्भ में खेलकूद के क्षेत्र में पूर्ण करता है। यदि इतर अवस्था के सहपाठियों के साथ बाल क्रीडा करता हुआ उन्हें खेल का निर्देशन देता है और कार्य करने की आज्ञा प्रदान करता है। इस क्रीडा में अपने आपको अनुशास्ता-नेता मानकर सतुष्टि का अनुभव करता है। जब स्कूल में जाता [illegible]

प्रदर्शित करता है तो विद्यार्थी अपनी यूनियन बना कर उसे नेता मान लेते है। उस कार्य मे उसको रसानुभव होता है एव कार्य करते-करते नेतागिरी की आदत मे परिणत हो जाता है, तदनन्तर अन्य कामो को गौण कर वह नेतागिरी को ही महत्त्व प्रदान कर चलने लगता है। सामाजिक एव राष्ट्रीयादि कार्यक्रमो मे अधिक सक्रिय होकर नेता बनने का भरसक प्रयत्न करता है। जब अपनी समान प्रकृति वाला दूसरा कोई मुकाबिले मे खडा होता है, उस समय अपनी पूर्व की सहज सरल प्रकृति को भूल कुटिलता एव दावपेच रूप छल-छद्म को अपनाता है। जिस नीति को उसने अपनाया वह सफल न हुई तो षड्यत्रादि का सहारा लेकर मायावी बन जाता है। उस समय उसकी नेतागिरी की आदत माया के रूप मे पनपने का मुख्य हेतु बन जाती है इस तौर-तरीके मे वह स्व-पर का बहुत बडा अहित करता है, अपने को निकाचित कर्म बन्धन के कारण दुर्गति की यातना का पात्र एव वर्तमान को भी सकट-ग्रस्त बना लेता है। अतएव प्रज्ञा-सम्पन्न पुरुष को चाहिए कि वह नेतागिरी के व्यसन को अपने जीवन मे कभी न पनपने दे। सेवाभाव एव परोपकार को ही सर्वोपरि स्थान दे। वर्तमान जीवन को आचार, विचार एव उच्चार की सपुष्टि के साथ आध्यात्मिक जीवन मे प्रवेश करे जिससे कि समीक्षण ध्यान से अपने जीवन को सुसज्जित बनाता हुआ समीक्षण दृष्टि से अन्तरग एव बाहर अवलोकन करने का अभ्यास डाले। इससे मनुष्य जीवन की सार्थकता भव्य तरीके से सिद्ध हो सकेगी। स्वय अपनी उस आदत को स्वय के मन पर नियत्रण करने के रूप मे बदल दे तथा मानस तत्र मे रहने वाले विकारो का परिमार्जन कर वास्तविक अर्थ मे अपनी आत्मा को निर्मल, स्वच्छ बना सिद्ध-बुद्ध-मुक्तावस्था को वर ले।

इस प्रकार प्रज्ञावान् पुरुषो को माया के स्वरूप का भली-भाँति अवलोकन करना चाहिए एव उसकी उपस्थिति मे मोहक लुभावने दृश्यो का जो क्षणिक प्रलोभन है उसमे कभी अपने आपको नियोजित नही करते हुए आत्म-शुद्धि को प्रधानता देकर चलना चाहिए। आत्मा की पवित्रता साधने पर सभी सध जाता है। इससे भिन्न तत्त्वो की उपासना के रूप मे लक्ष्य निर्धारण करना खतरो को निमत्रण देना है। दु ख-द्वन्द्व एव विषमता के दलदल मे फसना है। ममताभाव की मूर्च्छा को समताभाव से विलग करने पर तथा समीक्षण दृष्टि से दु ख-द्वन्द्व एव विषमता को देखने पर इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अतएव समीक्षण ध्यान की साधना ही वास्तविक साधना है। इसमे सशय को किंचित् भी अवकाश नही है।

• • •